ISSN : 2583-6331

JJIC

जम्बूद्वीप

THE JOURNAL OF INDIC STUDIES

Volume-2
Number-2
Year-2023

Sanskrit Discipline, School of Humanities
Indira Gandhi National Open University (IGNOU)
Maidan Garhi, IGNOU Road, New Delhi - 110068

JJIS Webite: http://journal.ignouonline.ac.in/index.php/jjis/index

Indira Gandhi National Open University
Sanskrit Discipline, School of Humanities

जम्बूद्वीप - *the e-Journal of Indic Studies*
ISSN-2583-6331
Vol. 2; Issue 2; 2023

Patron: Prof. Nageshwar Rao, Vice-Chancellor, Indira Gandhi National Open University (IGNOU), New Delhi, India.

Editor-in-Chief: Prof. Kaushal Panwar, Professor of Sanskrit & Director, School of Humanities, IGNOU, Maidan Garhi, New Delhi, India

Editorial Board:

- Dr. Devesh Kumar Mishra, Associate Professor, Sanskrit Discipline, School of Humanities, IGNOU, New Delhi, India
- Dr. Pushpa, Associate Professor, Sanskrit Discipline, School of Humanities, IGNOU, New Delhi, India.
- Dr. Soniya, Assistant Professor, Sanskrit Discipline, School of Humanities, IGNOU, New Delhi, India.
- Dr. Asheesh Kumar, Assistant Professor, Sanskrit Discipline, School of Humanities, IGNOU, New Delhi, India
- Dr. Reeta Gupta, Assistant Professor, Sanskrit Discipline, School of Humanities, IGNOU, New Delhi, India
- Dr. Avdhesh Kumar, Assistant Professor, Sanskrit Discipline, School of Humanities, IGNOU, New Delhi, India
- Dr. Pramod Kumar, Sanskrit Dept, Maitreyi College, Delhi University, New Delhi (External Member), New Delhi, India
- Dr. Avdhesh Pratap Singh, Sanskrit Dept, Faculty of Arts, Delhi University (External Member), New Delhi, India

Technical Advisor: Dr. Sudhir Kumar Mishra, C-DAC, Pune, Maharashtra, India.

Secretarial Assistance: Sh. Manoj Kumar Sahani, Private Secretary (PS), School of Humanities, IGNOU, New Delhi, India

Publisher: Sanskrit Discipline, School of Humanities, Indira Gandhi National Open University (IGNOU), New Delhi, India. ***Email: ejournalsanskrit@ignou.ac.in***

© Indira Gandhi National Open University, New Delhi

Indira Gandhi National Open University
Sanskrit Discipline, School of Humanities

जम्बूद्वीप - *the e-Journal of Indic Studies*

ISSN-2583-6331

Vol. 2; Issue 2; 2023

क्र. सं.	विषय	लेखक	पेज सं.
1.	अग्निः प्रथमो देवता (ऋग्वेद 1.31 की विविध भाष्यपरकव्याख्या)	डॉ. मोनिका वर्मा	1 – 12
2.	'धराकम्पते' काव्य में वर्णित समस्याएँ-एक विवेचन	डॉ. लज्जा भट्ट	13 – 16
3.	'बौद्धन्यायानुसारं प्रमेयानां वैशिष्ट्यम्'	डॉ. कृष्णा कुमारी	17 – 20
4.	अथर्ववेद में विश्वबंधुत्व	डॉ. कमलेश रानी	21 – 25
5.	ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति	डॉ. मुकेश कुमार मिश्र	26 – 49
6.	आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का काव्यशास्त्रीय अवदान	डॉ. देवेश कुमार मिश्र	50 – 57
7 .	वेदोपदिष्टमन्तरिक्षविज्ञानम्	अमितकुमारः साउ	58 – 64
8.	अर्वाचीनवैयाकरणजयदेवमिश्रविरचितशास्त्रार्थरत्नावल्यां सावर्ण्यचिन्तनम्	उत्तमघोषः	65 – 67
9.	भाट्टसिद्धान्तानुसारं धर्मजिज्ञासाधिकरणविमर्शः	चन्दनः मुखर्जी	68 – 76
10.	चम्पूकाव्यः परिभाषा एवं स्वरूप	राजेन्द्र प्रसाद मिश्रा	77 – 82

* * * * * *

अग्निः प्रथमो देवता
(ऋग्वेद 1.31 की विविध भाष्यपरकव्याख्या)

डॉ. मोनिका वर्मा
सह आचार्य, मौलिक सिद्धान्त विभाग,
डॉ. एस.आर. राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर
Email: drmonika17@gmail.com

वेद वैश्विकचेतना के सर्वोच्चस्तर का चरम निदर्शन है। रजोगुण और तमोगुण से विनिर्मक्त ऋषियों ने अपने दिव्य अन्तःकरण में सात्विक धियामात्र से अनुभूत ज्ञान को ऋचाओं के रूप में निबद्ध किया। ये ऋचाएं अग्नि, इन्द्र, अश्विनी कुमार, वरुण, विष्णु, रुद्र ब्रह्मणस्पति, उषा, सविता, सूर्य, सोम, मित्र, भग, अर्यमा, ऋभु, सोम आदि देवताओं की स्तुति का परमसाधन हैं। इन स्तुतियों के प्रतिदान में ऋषियों द्वारा गौ, अश्व, वाज, शत्रुविजय एवं प्रभूत सन्तति की याचना करते हुए देवताओं के स्वरूप एवं कर्मों का वर्णन है और यही मन्त्रों की संक्षिप्त विषयवस्तु है।

इस सम्बन्ध में सहज ही जिज्ञासा होती है कि वे ऋषि जो प्रकृतिस्थ कहे गये हैं तथा जिनमें लेशमात्र भी रज और तम नहीं है, जिनके वचन मुक्तकण्ठ से अपौरुषेय कहे गए हैं क्या ये वही वेद है जिसमें सामान्य मनुष्यों की ईर्ष्या, लोभ, लालच, मोह मत्सरता जैसे भाव कविता में व्यक्त हुए हैं? क्या ये ऋषि हमारे जैसे ही तुच्छ मनोवृत्ति वाले मनुष्य थे? ऐसी ही जिज्ञासा समय-समय पर उत्थित हुई है। इसके प्रमाण के रूप में यास्ककृत निरुक्त में प्राप्त होता है जहां यास्क वैदिक ऋचाओं के त्रिविध अर्थ की ओर संकेत करतें है - **तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः। प्रत्यक्षकृताः। आध्यात्मिक्यश्च।**[1] अर्थात् ऋचाएं तीन प्रकार की होती हैं -**परोक्ष, प्रत्यक्ष एवं आध्यात्मिक**। यदि इस विचार को आधार बनाकर अध्ययन किया जाये तो वेदों में निगूढ तत्त्व का प्रकाशन संभव है। इसी आधार पर मैंने अग्नि सूक्त 1.31 के विश्लेषण का प्रयास किया है।

अग्निसूक्त - ऋग्वेद प्रथम मण्डल 1/31, आंगिरस हिरण्यस्तूप ऋषि , अग्नि देवता।

प्रथम मन्त्र- **त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।**

तव व्रते कवयो विद्मनापसो अजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः।।

सायणकृत अर्थ- हे अग्नि तुम प्रथम अंगिरा ऋषि तथा देवों के कल्याणकारी सखा देव हुए। तुम्हारे कर्म में मेधावी, ज्ञानसम्पन्न, दीप्तमान आयुध वाले मरूद् देवता उत्पन्न हुए।

दयानन्दकृत अर्थ- हे अग्ने (आप) ही प्रकाशित और विज्ञानस्वरूप युक्त जगदीश्वर, जिस कारण (त्वम्) आप (प्रथमः) अनादिस्वरूप अर्थात् जगत्कल्प की आदि में सदा वर्तमान(अङ्गिरा) ब्रह्माण्ड के पृथ्वी आदि, शरीर के हस्त पाद आदि अङ्गी के रस रूप अर्थात् अन्तर्यामी (ऋषि) सर्व विद्या से परिपूर्ण वेद के उपदेश करने वाले और (देवानाम्) विद्वानों के (देवः) आनन्द उत्पन्न करने (शिव) मंगलमय तथा प्राणियों को मंगल देने वाले (सखा) उनके दुःख दूर करने से सहायकारी (अभवः) होते हो और जो (विद्मनापसः) ज्ञान के हेतु कामयुक्त (मरुतः) धर्म को प्राप्त मनुष्य (तव) आप की (व्रते) आज्ञा नियम में रहते हैं, इससे वही (भ्रातदृष्टयः) प्रकाशित अर्थात् ज्ञान वाले (कवयः) कवि विद्वान् (अजायन्त) होते हैं।

अरविन्द कृत अर्थ- हे अग्ने तु प्रथम अङ्गिरस हुआ है, ऋषि, देवों का देव, शुभ सखा है। तेरी क्रिया के नियम(व्रत) में मरुत् अपने चमकीले भाले के साथ उत्पन्न होते हैं, जो क्रान्तदर्शी हैं और ज्ञान के साथ कर्म करने वाले हैं।

©Indira Gandhi National Open University

अपने मन्त्र के विश्लेषण में अरविन्द कहते हैं कि अग्नि अंगिरा में दो भाव विद्यमान हैं- ज्ञान और क्रिया । प्रकाशयुक्त अग्नि और प्रकाशयुक्त मरुत् अपने प्रकाश द्वारा ज्ञान के द्रष्टा, ऋषि और कवि हुए और ज्ञान के प्रकाश द्वारा शक्तिशाली मरुत् अपना कार्य करते हैं क्योंकि वे अग्नि के व्रत में -उसकी क्रिया के नियम में उत्पन्न हुए हैं या आविर्भूत हुए हैं। अरविन्द के अनुसार वेद का आन्तरिक भाव आध्यात्मिक, सार्वभौम एवं निर्वैयक्तिक है। यज्ञ प्रक्रिया के द्वारा मानव स्वयं को उच्चतर शक्तियों के प्रति समर्पित करता है तथा उसका प्रतीकात्मक रूप यजन के रूप में प्राप्त होता है। अग्नि का प्राथम्य इसलिये भी है कि उसके बिना यज्ञीय ज्वाला आत्मा की वेदी पर प्रदीप्त नहीं होती क्योंकि अग्नि परमात्मा की एक ज्ञानप्रेरित शक्ति है।

भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर मुझे यह प्रतीत होता है कि सायण ने अग्नि के स्वरूप का निरूपण यज्ञीय परम्पराओं के आधार पर किया है। अग्नि का प्राथम्य अनेक प्रकार से स्तुत है- **अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्**[2] अथवा **अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्**[3]। अग्नि का प्राथम्य निर्वचनानुकूल है। अग्नि के निर्वचन में यास्क कहतें हैं- **अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवती। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते**[4]। ऐसा प्रत्यक्षदृष्ट भी है क्योंकि यज्ञ के प्रारम्भ में अग्नि का प्रथमतः प्रज्ज्वलन देखा जाता है तत्पश्चात् यज्ञ के अन्य कर्म प्रारम्भ होते हैं। मन्त्र के श्रवण पर अग्नि का बिम्ब किस प्रकार निर्मित होता है, सायण उस दृष्टि से विचार करतें हैं अतः उनके भाष्य में अग्नि किसी कथा के नायक के रूप में चित्रित होते हैं। अग्नि सबसे पहले यज्ञ में लाया जाता है अतः वह प्रथम है। यह ऋचा का प्रत्यक्ष अर्थ है । परन्तु दयानन्द सीधे ही परमेश्वर की सत्ता का स्तवन करते हैं, भौतिक अग्नि यहां गौण है। क्योंकि ऋग्वेद (1/1/1) के भाष्य में वे स्पष्ट करते हैं- **सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव प्रतिपादनात् तस्यात्र ग्रहणम्।** परमेश्वर प्रकाशरूप है अतः मुख्य है और यहां परमेश्वर के उस ज्वलन्तस्वरूप को ही स्वामी दयानन्द ने शब्दित किया है इस प्रकार दयानन्द की दृष्टि में यहां कर्मकाण्ड की गौणता प्रतीत होती है।

द्वितीय मन्त्र- **त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानां परि भूषसि व्रतम्।**

विभुर्विश्वस्मै भुवनाय मेधिरो द्विमाता षयुः कतिधा चिदायवे।।

सायणकृत अर्थ- हे अग्नि तुम प्रथम अङ्गिरस्तम हो क्रान्तद्रष्टा अग्नि तुम देवताओं के कर्म को अलङ्कृत करते हो । मेधावान् और विभु और द्विमाता अग्नि इस लोक और मनुष्यों के लिये कितने स्वरूपों में शयन करतें हैं?

दयानन्द कृत अर्थ- हे (अग्ने) सब दुखों के नाश करने वाले और सब दुष्ट शत्रुओं का दाह करने वाले जगदीश्वर या सभासेनाध्यक्ष जिस कारण (त्वम्) आप (प्रथम)अनादिस्वरूप या पहले मानने योग्य(शयु) प्रलय में सब प्राणियों को सुलाने (मेधिर) सृष्टि समय में सब को जिलाने (द्विमाता) प्रकाशवान या लोगों के निर्माण अर्थात् सिद्ध करने या तद्विद्या जानने वाले(अंगिरसतमः) जीव प्राण और मनुष्यों मे अति उत्तम(विभु) सर्वव्यापक या सभा सेना के अंगों से शत्रु बलों में व्याप्त स्वभाव(कवि) और सबको जानने वाले हैं(चिद्) उसी कारण से (आयवे) मनुष्य या (विश्वस्मै) सब(भुवनाय) संसार के लिये (देवानाम्) विद्वान् सूर्य और पृथ्वी आदि लोकों के (व्रतम्) धर्मयुक्त नियमों को कई प्रकार से (कतिधा) सुषोभित करते हो । इस मन्त्र में दयानन्द ने मन्त्रार्थ में श्लिष्ट पदों के प्रयोग से परमेश्वर की सत्ता को कीर्तित किया है।

यदि सायण की व्याख्या का विश्लेषण किया जाये तो उन्होने भी अग्नि की महिमा को प्रशंसित किया है और अग्नि को अंगिरसतम और देवों में क्रान्तद्रष्टा देव के रूप में चित्रित किया है। द्विमाता पद के प्रयोग से सायण ने अग्नि के दो अरणियों में उत्पन्न होने वाले सामान्य अर्थ के साथ आधिदेविक अर्थ में दो लोकों का निर्माता यह अर्थ किया है- **द्वयोः अरण्योः उत्पन्नः वा द्वयोः लोकयोः निर्माता** । अग्नि में प्रदत्त हवि इस लोक से उस लोक को योजित करती है अतः वह वस्तुतः मनुष्यो के लिये दोनों लोक का निर्माता तो है ही साथ ही वह पृथ्वीलोक को द्युलोक से सम्बद्ध करने के कारण यदि द्विमाता के रूप में स्तुत हो तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। अग्नि मनुष्यो के घर सदैव निवास करते हैं। निवास की इस स्थिर अवस्था को बताने के लिये सायणाचार्य ने शयुः इस क्रियाविशेषण का प्रयोग किया है। इसी प्रकार विद्मनापसः का अर्थ सायण ने विद् ज्ञाने और विद्म् वेदने इन धातुओं से निष्पन्न स्वीकृत करके **विद्मनानि अपांसि येषां ते** अर्थात् **ज्ञानेन व्याप्नुवानाः वा ज्ञातकर्माणो वा** इस प्रकार किया है।

©Indira Gandhi National Open University

कवि, यह पद स्वयं में ही अद्वितीय प्रतिभा का वाचक है। (1/1/5) के भाष्य में सायण कवि पद पर टिप्पणी देते हुए कहते हैं- **कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचन न तु मेधावीनाम्।** निरुक्तकार के अनुसार कविशब्द मेधावी नामों में पठित है- **मेधावी कविः क्रान्तदर्षनो भवति कवतेर्वा**[5] महीधर के अनुसार- **अतीतानागतदूरेणवर्तिपदार्थानां यस्य युगपज्ज्ञानं स कविः**[6]। अरविन्द के अनुसार - कवि का अर्थ है द्रष्टासे दिव्य या अतिमानसिक ज्ञान हो[7] वेद के आधुनिक व्याख्याकारों ने वेद की आध्यात्मपरक व्याख्या को महत्त्व प्रदान किया है। प्रथम और द्वितीय दोनों मन्त्रों की व्याख्या के सन्दर्भ में वैदिक अध्येत्री डॉ. श्रद्धा चौहान अपनी व्याख्या में कहती हैं कि प्रज्ञानब्रह्मरूप अग्नि वह ज्ञानाग्नि है जिसके व्रत में मरुत् प्राण "विद्मनाः अपसः कवयः" हो जाते हैं और जो स्वयं प्रथम अंगिरा ऋषि कहलाता है। यही वह प्रथम अंगिरस्तम है जो मनुष्य के लिये अनेक रूप धारण करने वाला मेधिर कहलाता है।[8]

तृतीय मन्त्र- **त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर्भव सुक्रतूया विवस्वे।**

अरेजेतां रोदसी होतृवूर्ये असन्नोर्भारमयजो महो वासो।।

सायण- हे प्रथम मातरिश्वा अग्नि तुम सुन्दर कर्म वाले यजमान के लिये मुख्य होकर स्थित होते हो। तुम्हारे प्रभाव से द्यावा और पृथ्वी कम्पित होते हैं। होता के वरणीय भार को वहन करने वाले हे निवास का कारण अग्नि तुमने महान् देवों की उपासना की थी ।

दयानन्द- हे (अग्ने) परमात्मन् वा विद्वान्(प्रथमः) अनादिस्वरूप या समस्त कार्यों में अग्रगन्ता(त्वम्) आप जिस (सुक्रतुया) श्रेष्ठ बुद्धि और कर्मों को सिद्ध कराने वाले पवन से (होतृवूर्ये) होताओं को ग्रहण करने योग्य(रोदसी) विद्युत् और पृथ्वी(अरेजेताम्) अपनी कक्षा में घूमा करतें हैं उस(मातरिश्वने) अपनी आकाश रूपी माता में सोने वाले पवन या (विवस्वते) सूर्यलोक के लिये उनको (आवि भवः) प्रकट कराइये हे (वसो) सबको निवास करवाने वाले, आप शत्रुओं को (असन्नोंः) विनाश कीजिये जिनसे (महः) बडे-बडे (भारम्) भारयुक्त यान को (अयजः) देश-देशान्तर में पहुंचाते हो उनका बोध हमको कराइये।

सायण ने अग्नि को मातरिश्वा में प्रथम मानकर सम्बोधित किया है अपनी इस मान्यता में वे निरुक्तकार को उद्धृत करते हैं - **अग्निर्वायुरादित्यः**[9] और इसी को विवृत करते हैं-**वाय्वपेक्षतया मुख्यत्वात् सर्वत्र मुख्यत्वावगमात्।** मातरिश्वा पद को वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं-**निर्माणहेतुत्वात् माता अन्तरिक्षम्। तत्रश्वसिति प्राणितीति मातरिश्वा।** दयानन्द ने इसका अर्थ **आकाश में सोने वाली वायु किया है ।** इसी प्रकार विवस्वते पद का अर्थ सायण ने - **विवासतिः परिचरणकर्मा** इस प्रकार किया है । विवास् धातु से क्विंप्, उपधाह्रस्व तथा मतुॅप् का प्रयोग एवं म को व होकर विवस्वत् पद के चतुथ्र्यन्त रूप का सायण ने **परिचरते यजमानाय** ऐसा अर्थ किया है। दयानन्द के अनुसार इसका अर्थ होगा **सूर्यलोक के लिये** । डॉ. श्रद्धा चौहान ने विवस्वते पद का अर्थ किया है **वासनारहित।**[10]

इसी प्रकार **होतृवूर्ये** यह पद भी विवेचनीय है। सायण ने इसका अर्थ **होता व्रियते इति होतृवूर्ये यज्ञं** किया है तथा इसकी विवृति वे **होतृवरणयुक्ते कर्मणि** इस प्रकार करते हैं। दयानन्द ने **होताओं को ग्रहण करने योग्य** इस प्रकार अर्थ किया है। **असन्नोः** का अर्थ सायण ने **ऊढवानसि** किया है दयानन्द इसका अर्थ करतें हैं **(शत्रुओं का) विनाश कीजिये।** भारं को सायण ने होतृवूर्ये से संयुक्त किया है इस कारण यह वरेण्य कर्म का विषेषण प्रतीत होता है। इसके विपरीत दयानन्द ने भारं को महः से संयुक्त करके भारं अयजः का अर्थ किया है **बडे-बडे भारयुक्त यान को देशदेशान्तर में पंहुचाते हो।**

दोनों ही मन्त्रों की व्याख्या नितान्त भिन्न प्रतीत होती है क्योंकि सायण के समक्ष यज्ञवेदी में प्रज्वलित अग्नि और प्राचीन मान्यताएँ है इसके विपरीत दयानन्द के समक्ष निराकारी ईश्वर, जो सभी मूल कार्यो का कारण है। अपने मन्त्र के भावार्थ को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि **कारण रूप अग्नि अपने कारण और वायु के निमित्त से सूर्य रूप से प्रसिद्ध तथा अन्धकार का विनाश करके पृथिवी या प्रकाश का धारण करता है वह यज्ञ वा शिल्पविद्या के निमित्त से कलायन्त्रों में संयुक्त किया हुआ बडे-बडे भारयुक्त विमान आदि को शीघ्र ही देश-देशान्तर में पंहुचाता है।** इस मन्त्र में अग्नि को मातरिश्वा से प्रथम माना गया है क्योंकि अग्नि के कारण ऋत्विजों में अच्छे कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इस आधार पर आध्यात्मिक रूप में अग्नि संकल्पशक्ति प्रतीत होते हैं।

©Indira Gandhi National Open University

इन दोनों मन्त्रों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि सायण की दृष्टि कर्मकाण्ड की परम्परा का अनुसरण करती है इसके विपरीत दयानन्द की दृष्टि विज्ञानपरक प्रतीत होती है। सायण के समक्ष वेदमन्त्रों के संरक्षण तथा कर्मकाण्डीय विधि के संरक्षण की परम्परा थी अतः उनकी दृष्टि आधिभौतिक प्रतीत होती है परन्तु दयानन्द के समक्ष सुप्त और गर्हित भारतीयता के उत्थान का प्रश्न था, इसके अतिरिक्त भारतीय कर्मकाण्ड के विज्ञान से अनभिज्ञ पाश्चात्यसत्ता ने इन्हीं कर्मकाण्डों का प्रयोग भारतीयता के दमन में किया अतः दयानन्द ने वैदिक मन्त्रों के उस अर्थ को प्रकट किया जो विशुद्ध आध्यात्मिक चेतना को विवृत करते हैं।

चतुर्थ मन्त्र - **त्वमग्ने मनवे द्यामवाशयः पुरूरवसे सुकृते सुकृत्तरः।**

श्वात्रेण यत्पित्रोमुच्यसे पर्या त्वा पूर्वमनयन्नापरं पुनः।।

सायणकृत अर्थ- हे अग्नि तु मनु पर अनुग्रह करने के कारण द्युलोक को प्रकाशित करते हो। आपकी उपासना करने वाले पुरु नामक राजा के लिये और अधिक षोभन कर्म वाले हो। जब तुम दोनों पिताओं से षीघ्र ही मुक्त होते हो तब तुमको पूर्व में तथा पुनः पश्चिम दिशा में स्थापित करते हैं।

दयानन्दकृत अर्थ- हे जगदीश्वर अत्यन्त सुकृत कर्म करने वाले सर्व प्रकाशक आप जिसके बहुत से उत्तम-उत्तम वचन हैं और अच्छे-अच्छे कामों को करने वाला है उस ज्ञानवान् विद्वान् के लिये आप उत्तम सूर्यलोक को प्रकाशित किये हुए हैं। विद्वान् लोग धन और विज्ञान के साथ वर्तमान पूर्वकल्प या पर्वजन्म में प्राप्त होने योग्य और इसके आगे जन्म-मरण आदि से अलग प्रतीत होने वाले आपको पुनः-पुन प्राप्त होते हैं। हे जीव जिस परमेश्वर को वेद और विज्ञान के साथ उपदेश से प्रतीत कराते हैं जो तुझे धन और विज्ञान के साथ वर्तमान पिछले अगले देह को प्राप्त कराता है और जिसके उत्तम ज्ञान से मुक्त दशा में माता और पिता से तू सब प्रकार के दुःखों से छूट जाना तथा जिसके नियम से मुक्ति से महाकल्प के अन्त में फिर संसार में लाता है, उसका विज्ञान या सेवन तू अच्छी प्रकार कर।

दोनों ही मन्त्रों के कथनार्थ में पर्याप्त भिन्नता प्रतीत होती है। मनवे का अर्थ सायण **मनोरनुग्रहार्थम्** करतें हैं इसका अर्थ है मनु पर कृपा करने के कारण। दयानन्द इसका अर्थ करतें हैं- **ज्ञानवान् विद्वान् के लिये।** डॉ. श्रद्धा चौहान ने मनु का अर्थ-मननशील आत्मचेतना किया है[11] डॉ. चौहान के अनुसार सजात प्राणों को वेद में पूर्वे देवा के नाम से भी अभिहित किया जात है। वस्तुतः ये मनुष्य के उस पूज्य व्यक्तित्व के स्वामी हैं जो माता के गर्भ से नितान्त असहायावस्था में जन्म लेता है। पूर्वे देवाः अथवा सजाता नामक प्राण उनको गर्भ में धारण करतें हैं और नवजात शिशु को स्तनपानादिक पोषण क्रिया में समर्थ बनातें हैं।[12] इसी प्रकार अवाशयः का अर्थ सायण **शब्दितवान्** करते हैं और इसकी विवृत्ति में कहतें हैं- **पुण्यकर्मभिः साध्यों द्युलोकं प्रकटिवानसि परन्तु दयानन्द अवाशयः का अर्थ प्रकाशित किये हुए करतें हैं तथा द्याम का अर्थ सूर्यलोक करते** हुए अवाशयः को उसके साथ सम्बद्ध करतें हैं। पुरूरवसे पद की निरुक्ति सायण ने इस प्रकार किया है-**पुरु रौतीति पुरुरवा** अर्थात् पुरूरवा नामक राजा वाचस्पत्यम् में इसका अर्थ **पुरु प्रचुरं स्यात्तथा रौतीति पुरूरवा** ऐसा प्राप्त होता है। दयानन्द ने पुरूरवा का आशय किया है- **जिसके बहुत सारे उत्तम-उत्तम विद्यायुक्त वचन है ऐसा वह विद्वान्।**

श्वात्रेण पद का अर्थ सायण ने **क्षिप्रमन्थनेन** किया है और दयानन्द ने **धन और विज्ञान के साथ वर्तमान** किया है। इसी प्रकार **पूर्वमनयन्नापरं पुनः** इस अंश को सायण ने अग्निहोत्र की क्रिया से सम्बद्ध किया है-**पूर्वं वेदेः पूर्वं देशम् आ अनयन्आहवनीयत्वेन स्थापितवन्तः। पुनःपष्चात् अपरं पश्चिमदेशम्आ अनयन् गार्हपत्यरूपेण प्रापितवन्तः। आहवनीयकर्मानुष्ठानादूध्वं गार्हपत्यरूपेण धारितवन्तः इत्यर्थः।** इसके विपरीत दयानन्द ने **पूर्व और पिछला जन्म** किया है

सायण की दृष्टि पौराणिक कथा के अनुसार ऐतिहासिक अर्थ प्रकाशन में प्रतीत होती है वहीं दयानन्द ने विशुद्ध अर्थ प्रकट किया है वहां किसी प्रकार का आवरण नहीं है। मनु की विद्वता सहज ग्राह्य है अतः सायण ने मनवे से सूर्यपुत्र मनु का ग्रहण किया है और दयानन्द ने ज्ञानवान् विद्वान् अर्थ किया है और वह कोई भी हो सकता है। सायण का झुकाव परम्परागत प्रतीकात्मकषैली के प्रति उदार प्रतीत होता है इसके विपरीत दयानन्द निराकार सत्ता के वाच्यार्थ को प्रस्तुत करतें हैं।

पंचम मन्त्र- **त्वमग्ने वृषभः पुष्टिवर्धन उद्यतस्रुचे भवसि श्रवाय्यः।**

य आहुतिं परि वेदा वषट्कृतिमेकायुरग्रे विष आविवाससि।।

©Indira Gandhi National Open University

सायणकृत अर्थ- हे कामनाओं के पूरक, धनादिरूपपोषण की अभिवृद्धि के हेतु अग्नि तुम यजमान द्वारा मन्त्रों से श्रवणीय हो। जो वषटाकार आहुति को सम्यक् रूप से जानता है (सभी देवों में) मुख्य और प्रथम (तुम उस यजमान को) तदनुकूल प्रजाओं से सम्पन्न करतें हो।

दयानन्दकृत अर्थ- हे अग्ने यज्ञक्रिया फलवित् जगद्गुरो परेश जो आप प्रथम स्रुक् अर्थात् होम ग्रहण करने वाली वस्तु चढाने के पात्र को अच्छे प्रकार से ग्रहण करने वाले मनुष्य के लिये सुनने सुनाने योग्य और सुख बढाने वाले एक सत्य गुण कर्म स्वभाव रूप वर्तमान युक्त तथा पुष्टिवर्धन करने वाले होते हैं। जो आप जिसमें कि उत्तम-उत्तम क्रिया की जाये तथा जिसमें धर्मयुक्त आचरण किये जाये उसका विज्ञान करातें हैं। प्रजा पुष्टि वृद्धि के साथ उन आप और सुखों को अच्छे प्रकार से सेवन करती है।

इन दोनों ही मन्त्रों में यजनकर्ताओ के लिये कामनापूर्ति, पुष्टिवर्धन तथा प्रजाभिवर्धन का कथन किया गया है और दोनों ही भाष्यों में इन पदो के अर्थो में साम्य मिलता है। परन्तु जहां सायण एकायुः का अर्थ **मुख्यत्वात्** करतें हैं वहीं दयानन्द ने इसका अर्थ-एक सत्य गुण कर्म स्वभाव रूप वर्तमान युक्त किया है। इसी प्रकार वषट्कृतिम् का अर्थ सायण- **वषटाकारं युक्तामाहुतिम्** इस प्रकार करतें है वहीं दयानन्द इसका अर्थ **जिससे कि उत्तम-उत्तम क्रिया की जाये** ऐसी वृद्धि इस प्रकार अर्थ करते हैं। डॉ. श्रद्धा चौहान ने विष् का अर्थ विष् प्रवेशने धातु के आधार पर अन्तःप्रविष्ट चेतना किया है।[13]

दयाननद की दृष्टि वैदिक यजन की श्रेष्ठता के साथ उनकी शुद्धता पर भी थी और इसी प्रकार का पवित्र यजन सभी सुखों का कारण होता है । मुझे इस भाष्य से उनका मन्तव्य यह प्रतीत होता है कि वे यजन के तो समर्थक थे परन्तु आडम्बर और व्यर्थ के प्रपंच के प्रति अनुदार थे।

छठा मन्त्र- **त्वमग्ने वृजिनवर्तनिं नरं सक्मन्पिपर्षि विदथे विचर्षणे।**

यः शूरसाता परितक्म्ये धने दभ्रेभिश्चित्समृता हंसि भूयः।।

सायण कृत अर्थ- हे विशिष्ट ज्ञानयुक्त अग्नि तुम सदाचार से हीन मनुष्य को सत्कर्मानुष्ठान में युक्त करते हो। धन के विषय में शूरवीरों द्वारा करणीय युद्ध के उपस्थित होने पर अल्पशौर्यरहित पुरुष से युक्त जो तुम प्रतिपक्षी शत्रुओं को मारते हो।

दयानन्द कृत अर्थ- हे सब पदार्थो का सम्बन्ध कराने अनेक प्रकार के पदार्थो को अच्छे प्रकार से देखने वाले राजनीतिविद्या से शोभायमान सेनापति जो तु धर्मयुक्त यज्ञरूपी संग्राम में थोडे ही साधनों से अधर्म मार्ग में चलने वाले मनुष्य और बहुत शत्रुओं का हननकर्ता है और अच्छे प्रकार से सत्यकर्मो का पालनकर्ता है और जो पराये पदार्थो के हरने की इच्छा से सब ओर देखने योग्यसुवर्ण विद्या और चक्रवर्ती राज्य आदि धन की रक्षा करने के निमित्त आप हमारे सेनापति होइये।

सप्तम मन्त्र- **त्वं तमग्ने अमृतत्वे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे।**

यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये।।

सायण कृत अर्थ- हे अग्ने तुम उस मनुष्य को अन्न के लिये मरणरहित पद में धारण करते हो जो प्रतिदिन द्विजन्मना (आपके) लिये तृष्णायुक्त होता है ऐसे उस विद्वान् के लिये सुख और अन्न को करते हो।

दयानन्द कृत भाष्य- हे अग्नि हे जगदीश्वर आप जो बुद्धिमान मनुष्य प्रतिदिन सुनने योग्य अपने लिये मोक्ष को चाहता है उस मनुष्य को है, उस बुद्धिमान सज्जन के लिये सुख और प्रसन्नता को सिद्ध करते हो

अष्टम मन्त्र- **त्वं नो अग्ने सनये धनानां यशसं कारु कृणुहि स्तवानः।**

ऋध्याम कर्मापसा नवेन देवैद्यावापृथिवी प्रावतं नः।।

सायण कृत भाष्य- हे स्तूयमान अग्नि तुम हमारे लिये धन का दान करने वाले यशस्कर्ता (पुत्रों को) करो। (आपके द्वारा) पुत्रों से हम कर्म करें। अन्य देवताओं के साथ द्यावापृथिवी हमारी प्रकर्ष रूप से रक्षा करें।

©Indira Gandhi National Open University

दयानन्द कृत भाष्य- हे कीर्ति और उत्साह को प्राप्त कराने वाले जगदीश्वर या परमेश्वरोपासक आप स्तुति को प्राप्त होते हुएहम लोगों के विद्या सुवर्ण चक्रवर्ती राज्य प्रसिद्ध धनों के यथायोग्य कार्यों में व्यय करने के लिये कीर्तियुक्त उत्साह से कर्म करने वाले उद्योगी मनुष्य को नियुक्त कीजिये जिस से हम लोग पुरुषार्थ से नित्य बुद्धियुक्त होते रहे और आप दोनों विद्या की प्राप्ति के लिये विद्वानों के साथ करते हुए हम लोगो की और सूर्य प्रकाश और भूमि की रक्षा कीजिये।

दशम मन्त्र- **त्वं नो अग्ने पित्रोरुपस्थ आ देवो देवेश्वनवद्य।**

तनूकृद्बोधि प्रमतिश्च कारवे त्वं कल्याण वसु विश्वमोपिषे।।

सायणकृत अर्थ- हे दोषरहित अग्नि सभी देवों में जागरुक देव तुम हमें पुत्ररूप में जानो। यजमान के लिये सुन्दर मति वाले कल्याणकारक तुम सम्पूर्ण धन का वपन करो।

दयानन्द कृत अर्थ- हे उत्तम कर्मयुक्त सभी पदार्थों को जानने वाले सभापते धर्मयुक्त पुरुषार्थ में जागने, सब प्रकाश करने वाले और बड़े-बड पृथ्वी आदि बड़े लोकों में ठहरने वाले आप विद्वान् या अग्नि आदि तेजस्वी दिव्य गुणयुक्त लोकों में माता-पिता के समीपस्थ व्यवहार में हम लोगों को बार- बार नियुक्त कीजिये। हे अत्यन्त सुख देने वाले राजन उत्तम ज्ञान देते हुए आप कारीगरी के चाहने वाले मुझ को विद्या, चक्रवर्ती राज्य पदार्थों से सिद्ध होने वाले समस्त धन का अच्छी प्रकार से बोध कराइये।

दशम् मन्त्र- **त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत्तव जामयो वयम् ।**

सन्त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपामदाभ्य ।।

सायणकृत अर्थ- प्रकृष्ट मति वाले अग्नि तुम हमारे पिता हो, तुम हमारी आयु को करने वाले हो हम तुम्हारे बन्धु हैं। हे अहिंसनीय अग्नि तुमसे कर्म करने वाले सुन्दर पुत्र युक्त सैकडों (और) सहस्रों धन (हमारी ओर) सम्यक् रूप से जाते हैं।

दयानन्दभाष्य- हे उत्तम कर्मयुक्त यथायोग्य रचनाकर्म जानने वाले सभाध्यक्ष, अत्यन्त मान को प्राप्त हुए, समस्त गुण को प्रकट करने वाले आप हम लोगों के पालने वाले तथा आयुर्दा के बढ़वाने वाले तथा आप हम लोगों को बढ़ापे तक विद्या सुख में आयुर्दा व्यतीत करवाने वाले हैं। सुख उत्पन्न करने वाले आपकी कृपा से हम लोग ज्ञानवान सन्तान से युक्त हा दयायुक्त आप वैसा प्रबन्ध कीजिये और जैसे सैकड़ो वा हजारों प्रशंसित पदार्थ विद्या वा कर्मयुक्त विद्वान् लोग सत्य पालने वाले अच्छे-अच्छे और वीरयुक्त आपको प्राप्त होकर धन को अच्छी प्रकार प्राप्त होते हैं, वसे आपका आश्रय किये हुए हम लोग भी उन धनों को प्राप्त होवें।

एकादश मन्त्र - **त्वामग्ने प्रथममायुवे देवा अकृण्वन्नहुषस्य विश्वपतिम् ।**

इळामकृण्वन्मनुष्यस्य शासनीं पितुर्यत्पुत्रो ममकस्य जायते ।।

सायणकृत भाष्य- हे अग्नि देवताओं पहल ने आयु के लिये तुमको नहुष का सेनापति, इळा को मनुष्य की धर्मोपदेशिका किया, जिस समय तुमने मेरे पिता अंगिरा के (तुम) पुत्र रूप हुए।

दयानन्द कृत भाष्य - हे अमृतरूप सभापते तू जैसे विद्वान् लोग सत्यासत्य के निर्णय का निमित्त चार वेद की वाणी को करें। मनुष्य के विशेष ज्ञान के लिये जिससे सब विद्या और धर्माचार युक्त नीति से उसको ग्रहण करके अनादिस्वरूप जिस न्याय से प्रजा योग्य प्राप्त होने प्रजा पुत्र आदि की रक्षा करने वाले सभापति राजा को चारो वेदो की वाणी व सत्य व्यवस्था को प्रकाशित करते हैं वैसे ही ज्ञानवान मनुष्य की जो वेदवाणी है उसको आप प्रकाशित कीजिये ।

उक्त मन्त्र में बडी गूढ चर्चा प्राप्त होती है जो किसी अन्तरीक्षीय घटना की ओर संकेत करती है क्योंकि इस प्रकार की चर्चा अन्यत्र भी प्राप्त होती हैं- आकाशीय अग्नि **सूर्य और सूर्यजन्य रश्मि का मिथुन अग्न्यिादि देवों की उत्पत्ति में कारण है और इसका संकेत इस मन्त्र से ज्ञात होता है-**

यददेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।

यदा चरिष्णू मिथुनाभूतामादित् प्रापष्यन् भुवनानि विश्वा।।[14]

©Indira Gandhi National Open University

पौराणिक मत के अनुसार आयु पुरुरवा और उर्वशी का पुत्र माना जाता है। आयु के सन्दर्भ में डॉ. श्रद्धा चौहान का मत है कि- मनुष्यनामों में परिगणित आयवः पद आयु शब्द का बहुवचनान्त रूप है। कौषीतकी ब्राह्मण की **आयुर्वै मनुः** की उक्ति जहां आयु को मनु के साथ समीकृत करती है वहीं तैत्तिरीयसंहिता आयुः प्राणः कहकर उसकी आध्यात्मिकता को पुष्ट करती है। आयवः आ उपसर्गपूर्वक यु धातु से निष्पन्न आयु मिश्रण और अमिश्रण का एक साथ बोधक है। अतः आयवः की पहुंच सभी विश (अन्तः प्रविष्ट) प्राणों तक मानी जा सकती है। सूर्य और उषा को अगर पुरुरवा और उर्वशी माना जाये तो आयु का अर्थ आकाशीय अग्नि सूर्य और उसकी रश्मिजन्य ताप है जो कालान्तर में नहुष का जनक माना जाता है और नहुष मरुद्गण का एक भेद माना जाता है। इस सन्दर्भ में यह मन्त्र द्रष्टव्य है-

परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विविस्वतः ।

ययातेर्ये नहुषस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधि ब्रुरवन्तु नः।।[15]

वाचस्पत्यम् में नहुष की व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है- **नयते मायया इति नहुषः अथवा नह्यति सर्वाणि भूतानि मायया**, इस अथ में यह बन्धने धातु से उषच् प्रत्यय के प्रयोग से नहुष की सिद्धि होती है। इस मन्त्र के विश्लेषण में डॉ श्रद्धा चौहान का कथन है कि ये आयवः प्राण विवस्वान् के उस आशुदूत अग्नि को विश के प्रत्येक गण के लिये आहूत करते हैं, जबकि अग्नि स्वयं प्रथम आयु कहलाता है जिसे देव आयु के लिये नहुष का विश्पति बनाते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रथम आयु के रूप में अग्नि को समष्टिगत ब्रह्म और द्वितीय आयु रूप में अग्नि को व्यष्टिगत जीवात्मा मानना उचित होगा।[16] इसी सन्दर्भ में डॉ चौहान और भी विश्लेषण करती है - चित्तवृत्तियों के निरोध द्वारा सन्नहन में प्रवृत्त होकर भी जो अहंता विद्यमान रहती है, उसको नियन्त्रित करने के लिये अग्नि को आय के नहुष का विश्पति इला को उसके मनुष्य पक्ष की शासिका बनाना आवश्यक है।[17]

द्वादश मन्त्र - **त्व नो अग्ने तव देव पायुभिर्मघोनो रक्ष तन्वष्च वन्द्य।**

त्राता तोकस्य तनये गवामस्य निमेषं रक्षमाणस्तव व्रते।।

सायण कृत अर्थ- हे वन्दनीय अग्नि तुम अपने पालनों द्वारा धनयुक्त तथा पुत्रयुक्त हम लोगों की रक्षा करो। हे गायों के रक्षक तुम्हारे कर्म में निरन्तर सावधान हैं(ऐसे) हमारे पौत्रौ की रक्षा करो।

दयानन्द भाष्य- हे देव सब सुख देने वाले और स्तुति करने योग्य तथा यथोचित सब की रक्षा करने वाले परमेश्वर सर्वाधिपति आपके सत्य पालन आदि नियम में प्रवृत्त और प्रशंसनीय धनयुक्त हम लोगों को और हमारे शरीरों को उत्तम रक्षादि व्यवहारों से प्रतिक्षण पालिये। रक्षा करते हुए आपके उक्त नियम में वर्तमान छोटे-छोटे बालक प्राणियों के मन आदि इन्द्रियां और गाय बैल आदि पशु हैं उनके तथा सब चराचर जगत् के प्रतिक्षण रक्षक अर्थात् अत्यन्त आनन्द देने वाले होइये । उक्त मन्त्र में स्वामी दयाननद ने राजा के रूप में परमेश्वर का स्तवन किया है।

व्रत यह पद व्यापक अर्थ को लिये हुए है। निरुक्त में इस पद की व्याख्या इस प्रकार प्राप्त होती है- व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सत इदमपीतरद्व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म वारयतीति सतोऽन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम्।[18] इसी अंश पर दुर्गाचार्य अपनी टीका में कहते हैं- **वृणोतीति एवं कर्तरिकारके सतः वृणोते तद्धि कर्म शुभं च कृतं सदावृणोति कर्तारम् ।।**

त्रयोदश मन्त्र- **त्वमग्ने यज्यवे पायुरन्तरो अनिषङ्गाय चतुरक्ष इध्यसे।**

यो रातहव्योऽवृकाय धायसे कीरेश्चिन्मन्त्रं मनसा वनोषि तम्।।

सायण कृत अर्थ- यजमान के पालक और चारो दिशाओ वाले हे अग्नि तुम (राक्षस आदि से) असम्बद्ध(यज्ञ) के लिये प्रदीप्त होते हो। अहिंसक (यज्ञ) के पोषण के लिए दत्तहवि मंत्रगायक के मंत्र को (आपके) मन से विस्तारित करते हैं।

दयानन्दकृत अर्थ- हे सभापति तू विज्ञान से विचार या वेदमन्त्र को सींचने वाले के सदृश होम में लेने-देने योग्य पदार्थों का दाता पालन का हेतु मध्य में रहने वाला और सेना के अङ्ग अर्थात् हाथी, घोडे और रथ के आश्रय से युद्ध करने वाले और पैदल योद्धाओं में अच्छी प्रकार चित्त देता हुआ जिस पक्षपात रहित न्याययुक्त चूरी आदि दोष के सर्वथा त्याग और उत्तम गुणों के कारण तथा यज्ञ वा शिल्पविद्या सिद्ध करने वाले मनुष्य के लिये तेजस्वी होकर अपना प्रताप

©Indira Gandhi National Open University

दिखाता है। ताकि जिसको सेवन करता है उस प्रषंसनीय वचन कहने वाले विद्वान् से विनय को प्राप्त होके प्रजा का पालन किया कर।

चतुर्दश मन्त्र- **त्वम् अग्ने उरुषंसाय बाधते रुपाहम् यद्रेक्णः परमं वनोशि तत्।**

आध्रस्य चित्प्रमतिरुच्यसे पिता प्र पाकं शास्सि प्र दिषो विदुष्टरः।।

सायण कृत अर्थ- हे अग्नि तुम नानाविध स्तुति करने वाले के लिये जो उत्तम वरेण्य धन है उसको वितरित करते हो और दुर्बल यजमान के प्रकृष्ट मति वाले पिता कहे जाते हो तथा शिशुरूप यजमान के लिये प्रकृष्ट रूप से दिशाएँ बताते हो।

दयानन्द कृत भाष्य- हे अग्ने विज्ञानप्रिय न्यायकारिन् जिस कारण उत्तम ज्ञानयुक्त नाना प्रकार के दुःखों से तारने वाले आप बहुत प्रकार की स्तुति करने वाले ऋत्विक मनुष्य के लिये चाहने योग्य अत्युत्तम धन, पवित्र धर्म और उत्तम विद्वानों को अच्छी प्रकार चाहते हैं और राज्य को धर्म से धारण किये हुए पिता के तुल्य सब को शिक्षा करते हैं इसी से आप सब के माननीय हैं। उक्त मन्त्र में परमेश्वर के गुणा को राजा में उपमित करके व्याख्या की गयी है।

इस प्रकार इस मन्त्र में अग्नि के द्वारा स्तोताओं के मन में सुन्दर स्वरूप का उल्लेख करते हुए अग्नि के दिग्दर्शक स्वरूप का कथन प्राप्त होता है तथा अग्नि के दक्षिण दिशा में होने की भी सूचना प्राप्त होती है।

पंचदश मन्त्र- **त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः।**

स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृत् जीवयाजं यजते सोपमा दिवः ।।

सायणकृत भाष्य- हे अग्नि तुम ऋत्विक को दक्षिणा देने वाले मनुष्य को थैले से सनद्ध कवच के समान चारों ओर से रक्षित करते हो। निवासस्थान में स्वादिष्ट अन्न वाला जो यजमान भूतयज्ञ का यजन करता है वह स्वर्गीय उपमा(होता है) ।

दयानन्दकृत भाष्य- हे अग्नि सब को अच्छी प्रकार से जानने वाले सभापति आप कवच के समान जो शुद्ध जल का भोक्ता सब को सुखकारी मनुष्य निवासदेश में नाना साधन युक्त यज्ञों से यज्ञ करता है उस अच्छे प्रकार विद्या धर्म के उपदेश करने और जीवों को यज्ञ कराने वाले अनेक साधनों सेकारीगरी में चतुर नम्र मनुष्य को सब प्रकार से पालते हो। ऐसे धर्मात्मा परोपकारी विद्वान् आप सूर्य से प्रकाश की उपमा पाते हो।

इस मन्त्र की व्याख्या में डॉ. श्रद्धा चौहान का मत है कि- अपने विभिन्न अंगों का ऐसा संस्कार और उपधान करना यज्ञ है जिससे सभी पापों की मुक्ति हो जाये। यही देवयज्ञ है। इसी आत्मयज्ञ को करने वाला श्रेयस्कर माना गया है। यही ऋग्वेद का जीवयाज है। जिसे समझने में भाष्यकारों ने स्ख्लन किया है। जिस अग्नि में यह यज्ञ सम्पादित किया जात है उसे सम्पूर्ण सूक्त में अनेकषः प्रमति, इडा, मेधिर,शिव,प्रथम ऋषि आदि कहा जाता है। यह विकृत पूर्व को अपर (सुसंस्कृत) रूप देने वाला तथा मनु के लिये द्यौ को शब्दायमान करने वाला होगा जिसे जैमिनीय ब्राह्मण में प्रजाः कहा गया। **अत एव यह जीवयाज जीवात्मा का यज्ञ है और उपर्युक्त आत्मयज्ञ का ही बोधक है न कि स्वादिष्ट जीव-जन्तुओं के भक्षण का।**[19]

इस प्रकार इस मन्त्र में पुनः अग्नि के आधिभौतिक रूप में उसके रक्षकस्वरूप की प्रषंसा करते हुए उसे भली प्रकार से सिले हुए कवच की उपमा दी गयी है तथा अग्नि की प्रेरणा से जो यजमान गृहागतों को सुस्वादु अन्न से तुष्ट करता है उसके स्वर्गप्राप्ति का अर्थवाद प्रस्तुत किया गया है।

षोडष मन्त्र- **इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात्।**

आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भृमिरस्यकृषिकृन्मत्र्यानाम्।।

सायणकृत भाष्य- हे अग्नि हमारे इस कर्मप्रमाद को क्षमा करो दूर से, जिस इस मार्ग को हम चले गये (इस धृष्टता को क्षमा करो)। सोमयाजी मनुष्यो के (तुम) प्रकृष्ट मति वाले पालक, कर्मनिर्वाहक, दर्शन देने वाले हो।

©Indira Gandhi National Open University

दयानन्दकृत भाष्य- हे अग्ने सबको सहने वाले सर्वोत्तम विद्वान् जो आप शान्त्यादि गुणयुक्त मनुष्यों को प्रीति से प्राप्त और सर्वपालक उत्तम विद्यायुक्त नित्य भ्रमण करने और वेदार्थ का बोध कराने वाले हैं। तथा हमारी ये इस विद्यानाशक अविद्या को अत्यन्त दूर करने वाले आप और हम जिसको हम लोग दूर से उल्लंघन करके धर्ममार्ग के सम्मुख आवे उसकी सेवा करें।

सायण इस मन्त्र में आपि इस पद का अर्थ करते हैं - प्राप्त करने योग्य अग्नि तथा प्रमतिः इस पद का अर्थ करते हैं - प्रकृष्ट मननयुक्त तथा भूमिः का अर्थ भ्रामक करते हैं। इसी प्रकार ऋषिकृत का अर्थ अग्नि के दर्शन को करने वाले करतें हैं । सायण के इस प्रकार के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि कहीं न कहीं अग्नि से उनका तात्पर्य शुद्धज्ञानपुंज से है जो ऋषियों द्वारा अपने अज्ञान से अथवा भ्रम रहित चित्त में साक्षत्कृत किया जाता है। इस प्रकार सायण ने इस मन्त्र में प्रमादकर्म हेतु अग्नि से क्षमायाचना की है सायण की यह क्षमायाचना कहीं न कहीं अग्नि के आधिदैविक अर्थ का संकेत करती है जिसे दयानन्द जी ने साक्षात् ग्रहण करके उसका आधिदैविक दिव्य स्वरूप प्रस्तुत किया है।

सप्तदश मन्त्र- **मनुष्यवदग्ने अङ्रिस्वदङ्रिगरो ययातिवत सदने पूर्ववच्छुचे।**

अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम्।।

सायणकृत भाष्य- हे पवित्र अङ्गारस्वरूप अग्नि अभिमुख्यता से यज्ञशाला में मनुष्य के समान, ययाति के समान, पूर्व के समान अङ्गिरस के समान जाओ। दिव्यस्वरूपज न को लाओ, कुशाओं पर बैठाओ और प्रिय यजन करो।

दयानन्दकृत भाष्य- हे पवित्र प्राण के समान धारण करने वाले विद्याओं से व्याप्त सभाध्यक्ष आप मनुष्यों के जाने-आने के समान वा शरीरव्याप्त प्राण वायु के सदृश राज्यकर्मव्याप्त पुरुष के तुल्य या जैसे पुरुष यज्ञ के साथ कामो को सिद्ध करते कराते है या जैसे उत्तम प्रतिष्ठा वाले विद्वान् विद्या देने वाले हैं, जैसे सब को प्रसन्न करने वाले विद्वानों में अति चतुर मनुष्य को अच्छे प्रकार प्राप्त कीजिये उस मनुष्य को विद्या और धर्म की ओर प्राप्त कीजिये तथा उत्तम मोक्ष के साधन में स्थित और वहां उसको प्रतिष्ठित कीजिये ।

अङ्गिरस यह पद भी स्वयं में विश्लेषणात्मक है। अगि गतौ धातु से इरुट् प्रत्ययपूर्वक इस पद की व्युत्पत्ति होती है। अङ्गिरस का निर्वचन इस प्रकार प्राप्त होता है- अङ्गति अगि। यह ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे अतः अङ्गति ब्रह्मणा मुखन्निसरति यह व्युत्पत्ति भी अङ्गिरस् के सन्दर्भ में प्राप्त होती है। अङ्गिरस का अङ्गिरस्त्व उसके अग्रगमन में निहित है। पुराणों एवं महाभारत के अनुसार के अनुसार अङ्गिरस ब्रह्मा के षट् मानसपुत्रों में से एक हैं। अग्रभूत अंग मुख से निर्गत अंगिरस् और याज्ञिक प्रक्रिया में अग्नि का अंगत्व इस साम्य के आधार पर अग्नि को अंगिरस् कहा जात है। अंगिरस् के सन्दर्भ में महर्षि अरविन्द का कथन है कि अंगिरस् शब्द अग्नि का सजातीय है क्योंकि जिस धातु अगि से निकला है वह अग्नि की धातु अगक केवल सानुनासिक रूप है। इन धातुओं का आन्तरिक अर्थ प्रतीत होता है प्रमुख या प्रबल अवस्थाभाव,गति,क्रिया, प्रकाश और इसमें अन्तिम अर्थात् प्रदीप्त या जलता हुआ प्रकाश इस अर्थ से ही अग्नि, आग, अंगार(दहकता कोयला, अंगारा) और अंगिरस् शब्द बने अतः अंगिरस् का अर्थ होना चाहिये ज्वालामय या दीप्त। वेद और ब्राह्मणग्रन्थों की परम्परा में भी अंगिरस् मूलतः अग्नि से निकट सम्बद्ध माने गये हैं।..... तो काफी स्पष्ट है कि अंगिरस् ऋषि यहां दिव्य अग्नि की प्रसरणषील ज्योतियां है जो द्युलोक में उत्पन्न होती है, इसलिये ये दिव्य ज्वाला की ज्योतियां है न कि किसी भौतिक आग की।[20] इस प्रकार इस मन्त्र के चतुर्धा विश्लेषण ने मनीषियों की गवेषणा को जागरित किया।

अष्टादश मन्त्र- **एतेन अग्ने ब्रह्मणा वावृधस्व शक्ती वा यत्ते चकृमा विदा वा**

उत प्रणेष्यामि वस्यो अस्मान्त्सं नः सृज सुमत्या वाजवत्या । ।

सायणकृत भाष्य- हे अग्नि तुम इस मन्त्र के द्वारा अभिवृद्धि को प्राप्त होवो। तुम से प्रदत्त शक्ति और ज्ञान से (मन्त्र का दर्षन) किया है ।(उस मन्त्र से) हम सभी को प्रकृष्टरूप से श्रेय प्राप्त करवाओ। हम सभी को अन्न और सुन्दर बुद्धि से युक्त करो।

©Indira Gandhi National Open University

दयानन्दकृत भाष्य- हे अग्ने सर्वोत्कृष्ट विद्वान् आप वेदविद्या, उत्तम अन्न युद्ध और विज्ञान या श्रेष्ठ विचारयुक्त से हमारे लिये अत्यन्त धन सब प्रकार से प्रकट कीजिये और आप अपने उत्तम ज्ञान से नित्य नित्य उन्नति को प्राप्त कीजिये । आपका जो प्रेम है वह हम लोग करें और आप हम लोगों के श्रेष्ठ बोध को प्राप्त करें।

एतेन- अस्मत्प्रयुक्तेन ब्रह्मणा-सायण इसका अर्थ करतें हैं-मन्त्रेण । (श. ब्रा. 7/1/1/5) के अनुसार ब्राह्मण शब्द यज्ञ एवं मन्त्र का बोधक है-ब्रह्म वै मन्त्र । दयानन्द ने इसे अग्नि का विशेषण माना है। इसी प्रकार शक्ती- सायण ने इस पद का व्याकरण की दृष्टि से विश्लेषण किया है- उनके अनुसार यहां तृतीयान्त पद के सुप्, टा का सुपां सुलुक् सूत्र से लोप होकर पूर्वसवर्णदीर्घ हुआ है तथा इसका अर्थ किया है अस्मदीया शक्त्या स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ युद्ध किया है। इसी प्रकार **वस्यः** यह पद भी विवेचनीय है। सायण इसका लक्षण वसुमत्तरत्वलक्षणम् अर्थात् श्रेयः करते हैं **दयानन्द-** अत्यन्त धन इस प्रकार अर्थ करते हैं। इस प्रकार यहां स्वामी दयानन्द के अनुसार जितने भी तृतीयान्त पद हैं वे अग्नि के विषेषण माने जायेंगे और इनका अर्थ होगा वेदविद्या, उत्तम अन्न, शक्ति और ज्ञान से सम्पन्न अग्नि। सायण के अनुसार सह करण सह तथा दोनों के योग में तृतीया होगी। ब्रह्मणा यह पद मन्त्र अर्थ का वाचक है, मन्त्र अग्नि के अभिवर्धन का कारण है अतः यहां कर्तृकरणयोस्तृतीया से तृतीया का प्रयोग उपपन्न है। इसी प्रकार शक्ती तथा विदा ये दोनों पद तृतीयान्त होकर यजमान के विषेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार शक्ती पद को सायण ने तृतीयान्त मानकर मूल पद का अभिधेय अर्थ किया है स्वामी दयानन्द ने इसका लाक्षणिक अर्थ युद्ध ग्रहण किया है सायण के अनुसार वाजवत्या और सुमत्या दोनों में ही सह के योग में तृतीया का प्रयोग है। दोनों ही यजमान की अभीप्सित वस्तुएं है और यजमान इनका सायुज्य अग्नि देवता से प्राप्त करना चाहता है।

दोनों ही मन्त्रों के भाष्यों में पर्याप्त अन्तर है। सायण के अनुसार अग्नि देव की प्रदत्त शक्ति से यजमान मन्त्रों का उच्चारण करतें है और उन्हीं से अन्न और सुन्दर मति प्रदान करने के लिये प्रार्थना करते हैं स्वामी दयानन्द ने मन्त्र में तृतीयान्त पदों को अग्नि का विशेषण मानकर अग्नि से प्रेम की याचना की है ।

अरविन्द वेदों से अत्यन्त चमत्कृत हैं । वेदों के विषय में उनकी धारणा है कि Vedas as a source of Indian civilization, it is religion it is philosophy it is culture is more in consonance[21] इसलिए अरविन्द के अनुसार- वैदिक अग्नि के दो विशेष गुण हैं, ज्ञान और देदीप्यमानशक्ति प्रकाश और आग्नेयशक्ति। इससे यह सूचित होता है कि वह विश्वव्यापी देवाधिदेव की शक्ति है, ज्ञान अनुप्राणित सचेतनशक्ति या संकल्प है- यही है तपस् का स्वरूप, जो विश्व को व्यापे है और इसके सब क्रियाव्यापारों के पीछे स्थित है। अतएव अग्नि अपने व्यापारों के चैत्य और आध्यात्मिक अर्थ में उस संकल्प की अग्नि ही होगा जो अपने अन्तर्निहित और सहजात ज्ञान के कार्य करता है।[22]

इस प्रकार वेद के अर्थ करने की विविध प्रक्रियाओं ने जहां एक ओर वेद का क्षेत्र व्यापक किया वहीं इनके अर्थ में घोर विसंगति की समस्या भी उत्पन्न की। वेदार्थ के असंतिकरण ने भारतीय इतिहास को अपूरणीय क्षति प्रदान की है। वेदार्थ के असगंतिकरण का प्रमुख कारण वेदकथन की रूपकषैली है। रूपक अलंकारशास्त्र का प्रमुख अलंकार और नाट्यविधा का पर्याय है। **रूपारोपात्तु रूपकम्** । किसी वस्तु के समस्त विषयों या या गुणों का एकत्र विवर्तन रूपक के माध्यम से किया जाता है। रूपक जब अलंकार के रूप में प्रयुक्त होता है तब उपमेय उपमान के अभेद को प्रस्तुत करता है। जब सुन्दरी को देखकर कहा जाता है कि चांद आया है तो वहाँ उपमेय सुन्दरी और उपमान चांद का एकत्र रूप में कथन किया जता है और यही शैली ऋग्वेद में प्रयुक्त की गयी। इस शैली के प्रयोग के कारण भी यास्क के पूर्वोक्तवचन में समाहित है। क्योंकि वैदिक ऋषियों के लिये मन्त्र प्रत्यक्षरूप थे और अपनी साधना में अरविन्द ने भी यही अनुभव किया । अरविन्द ने यह अनुभव किया कि मानवजीवन केवल आहार, निद्रा, भय या मैथूनोद्देष्यक ही नहीं अपितु वह पूर्णता और असीमता को प्राप्त करने के लिये प्राप्त हुआ है। अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करना अथवा स्वपिण्ड में स्थित दिव्य ऊर्जाओं की सहायता से सर्वोच्च सत्य, चित् और आनन्दस्वरूप का साक्षात्कार करवाना ही इन मन्त्रों का ध्येय रहा है। मन्त्र का बाह्यार्थ तो सदैव वही है जो बाह्य प्रज्ञा द्वारा देखा जा रहा है परन्तु आध्यात्मिक अर्थ चेतनान्वेषण के नवीन पथों का आरोहण करवाता है। भौतिक निरूपण सर्वथा व्यर्थ नहीं है। यह परम सत्ता की ज्ञानप्रेरित शक्ति है तथा पृथ्वी और द्यौः की मध्यस्थ है। मनुष्यों में स्थित आन्तरिक ज्वाला अग्नि है। अरविन्द ने अग्नि का विवेचन इस प्रकार किया है- अग्नि का अर्थ होता था बलवान, इसका अर्थ चमकीला या यह भी कह सकते हैं कि

©Indira Gandhi National Open University

शक्ति, तेजस्विता। इसलिये यह जहां कहीं भी आये, आसानी से दीक्षित को एक प्रकाशमय शक्ति के विचार का स्मरण करा सकता था, जो लोकों का निर्माण करती है और मनुष्य को ऊंचा उठाकर सर्वोच्च को प्राप्त करा देती है, महान कर्म का अनुष्ठान करने वाली है, मानव यज्ञ की पुरोहित है।[23] इस प्रकार अरविन्द ने यह अनुभव किया कि वेद में मानव व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले तत्त्व सजीव रूप से वर्णित किये गये हैं। बाह्यरूप से जो पुरोहित है वह आन्तरिक रूप से दिव्य संकल्प या दिव्यशक्ति है। भौतिकरूप से वह अग्नि कहा गया है।

यदि वेदमन्त्रों के अर्थ की चर्चा की जाये तो वेदार्थ के त्रिविध होने के कारण भाष्यकारों के मतान्तर प्राप्त होते हैं। अरविन्द वेदमन्त्रों को प्रत्यक्ष मानते हैं और उनका विचार है कि वैदिक रूपको का प्रयोग उनके आध्यात्मिक अर्थ की मुख्यता के लिये है। वैदिक ऋषियों का यह विचार था कि उनके मन्त्र चेतना के उच्चतर गुप्तस्तरों से अन्तःप्रेरित हुए आये है और वे इस गुह्यज्ञान को रखते हैं। वेद के वचन उनके सच्चे अर्थों में केवल उसी के द्वारा जाने जा सकते हैं जो स्वयं ऋषि या रहस्ययोगी हो।[24]

स्वामी दयानन्द अरविन्द के पूर्ववर्ती थे तथा सायण के पष्चाद्वर्ती अतः दयानन्द के विचारों पर सायण का प्रभाव था क्योंकि वे यज्ञीय परम्परा के आलोचक नहीं थे । सायणकाल तक आते -आते वेद केवल कर्मकाण्ड परक रह गये और मूल मन्तव्य से कर्मकाण्ड की अनुदारता देखी जा रही थी । सायण ने मन्त्रों का व्याकरणात्मक विश्लेषण तत्परता से किया है परन्तु मन्त्रों के रहस्यात्मक भाग को उन्होनें संकेत करके अध्येताओं के विश्लेषण हेतु वज्रसूच्युत्कीर्ण मणिमार्ग प्रस्तुत किया है। दयानन्द का काल वह था जब भारतभूमि स्वराज्य के लिये सज्ज हो रही थी। अत्यन्त अल्प ही सही भारतीयों में सुप्त राष्ट्रगौरव जाग्रत हो रहा था, उस काल में दयानन्द ने वेदों पर भाष्य की रचना की भारतीयों में प्राप्त आत्महीनता के निवारण के लिये आवष्यक था कि ऐसे साहित्य की रचना की जाये जो उनको आत्मगौरव की भावना से स्फूर्त कर दे। सायणकतृ भाष्य कहीं न कहीं मनुष्यभेद प्रस्तुत कर रहा था इसलिये वेदार्थभाष्य में स्वामी दयानन्द वेदार्थ विषय में कहतें हैं कि- सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति। तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्व उपदेषाः सन्ति। अतस्तदुपदेशपुरःसरणैव त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैमनुष्यैर्यथावत्कर्तव्यमिति[25] अतः दयानन्द अपने भाष्यभूमिका में स्पष्ट करते है कि अग्नि सूक्त में मुख्यता तो परमेश्वर की है क्योंकि वह तो सर्वगुणोपेत है परन्तु प्रकाश , गति, ज्ञान, गमन आदि यदि व्यवहारसिद्धि के हेतु अग्नि में घटित होते हैं तो उस दृष्टि से उसमें देवतापन लिया जाये तो कोई हानि नहीं है। स्पष्ट है कि दयानन्द वैदिक संस्कृति के प्रति समन्वयवादी दृष्टिकोण रखते हैं उनका मतान्तर वहीं प्रकट होता है जहां वैदिकज्ञान में विकृति होती है।

सायणकृत भाष्य में यद्यपि कर्मकाण्ड का दर्षन होकर वैदिक देवताओं का अतिशयोक्तिपूर्ण एवं अकल्पनीय मानवीय चित्रण प्राप्त होता है। इस सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जिस समय सायण के समक्ष वेदभाष्य की चुनौती थी उस समय वैदिकज्ञान की दुरुहता के कारण और तात्कालिक ऐतिहासिक कारण से वेदज्ञान के प्रति अरुचि या अप्रवर्तना प्राप्त हो गयी हो अतः इस उद्देष्य को दृष्टिगत रखते हुए कथोपकथन वाला भाष्य रचा गया हो। कालान्तर में इसी भाष्य के कथोपकथनों के कारण वैश्विक पटल पर भारतीय संस्कृति अवनत स्वरूप के कारण दयानन्द ने पुनः अपने भाष्य के माध्यम से वेदार्थ संगतिकरण के माध्यम से भारतीयों का ध्यान अपनी उन्नत सांस्कृतिक परम्पराओं की ओर आकृष्ट करके स्वराज की प्रथम अलख को आलोकित किया जो हमें अरविन्द के भाष्य में पूर्ण ज्वालामाण स्वराजाग्नि के रूप में दिखायी देती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 निरुक्त 7/1/1/

2 ऐ0ब्रा0 1/4

3 तै0सं0 5/5/1/4

4 नि0 7/4/1

5 निरुक्त-12/13

6 वा0सं02/4

©Indira Gandhi National Open University

7 वेद रहस्यम् उत्तरार्द्ध श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डीचेरी-2 1972, पृष्ठ,340

8 मानव व्यक्तित्व की वैदिकगवेषणा, गवेषणा प्रकाशन, 2003 , पृष्ठ 48

9 ऋ0 1/31/3 में उद्धृत सन्दर्भ नि07/7

10 मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा पृ0 46

11 मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा पृष्ठ 63

12 मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा पृष्ठ 27-28

13 मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा पृष्ठ 26

14 ऋ010/88/11

15 मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा पृष्ठ 76

16 ऋ0सं0 10/63/1ु

17 मानवव्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा- पृष्ठ 77

18 मानवव्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा पृ0 56

19 निरुक्त 2/4/1

20 मानवव्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा पृ0-63

21 वेद रहस्यम् पूवार्द्ध श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डीचेरी-2 1972 ,पृष्ठ 218

22 The Mastic Fire Page-7

23 वेद रहस्यम् पूवार्द्ध श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डीचेरी-2 1972 पृ0 356, 106-107

24 वेद रहस्यम् पूवार्द्ध श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डीचेरी-2 1972, पृष्ठ -7

25 ऋग्वेद भाष्यभूमिका-पृष्ठ 46

©Indira Gandhi National Open University

'धराकम्पते' काव्य में वर्णित समस्याएँ-एक विवेचन

लज्जा भट्ट
सह आचार्य, संस्कृत विभाग
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल
Email: lajjabhatt.dsb@gmail.com

वर्तमान सदी में तकनीकी तथा विज्ञान के उच्च प्रयोग द्वारा भौतिक विकास तथा उन्नति होने के साथ-साथ ही विविध प्रकार की समस्याओं का भी जन्म हुआ है।इस समस्याओं के निस्तारण हेतु समाज के प्रत्येक नागरिक को अवश्य प्रयत्न करना चाहिए तभी इन समस्याओं का कुछ हल निकल सकता है। प्राचीन काल से ही अनेक विद्वानों ने संस्कृत भाषा को अपनी लेखनी का विषय बनाते हुए संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है। उत्तम काव्य रचना का कार्य मात्र मनोरंजन करना ही नहीं होता अपितु वह कान्तासम्मितउपदेश के द्वारा जन-जागरूकता का प्रसार भी करती है।

युगधर्म को लेकर संस्कृत के रचनाकार काव्यरचना हेतु उन्मुख हुए हैं। कवयित्री कमला पांडेय ऐसे प्रयोगधर्मी रचनाकारों में अग्रगण्य हैं।स्वातन्त्रोत्तर भारतवर्ष की अधुनातन समस्याओं के समाधान हेतु रचनाकार के पास एकमात्र उपकरण उसकी रचनाएँ ही होती हैं। जिस पर उसका वश चलता है। कवयित्री कमला ने अपनी रचनाधर्मिता से सृजनात्मक काल का प्रतिनिधित्व करते हुए उसके समाकलन में कोई कसर नहीं छोड़ी है। अपने काव्यों के माध्यम से उन्होंने पर्यावरण संकट, सांस्कृतिक धरोहरों की संरक्षा से जुड़े नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन, चारित्रिक ह्रास, विश्वव्यापी आतंकवाद, बढती आबादी, स्त्रीजीवन, ह्रास होती कुटुंब संस्कृति, अंधाधुन्धदोहन, गोवध, शिक्षा विडम्बना, नाना प्रकार के शोषण से उत्पीडितपृथिवी, गंगा प्रदूषण, आदि को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। भूकंप,भूस्खलन, मेघविस्फोट, वैश्विक ऊष्मा, सूनामी जैसी आपदाओं द्वारा पृथिवी को दिए जा रहे संत्रास की ओर डॉ० कमला का ध्यान गया है। इन सबसे उत्पन्न अपनी मार्मिक वेदना को कवयित्री द्वारा 'धराकम्पते' नामक काव्य में वर्णित किया गया है।

'धराकम्पते' काव्य मुक्तक नामक पद्यकाव्य भेद के अंतर्गत आता है। संस्कृत काव्य-शास्त्रियों की दृष्टि में मुक्तक काव्य ऐसा छन्दोबद्ध काव्य है, जिसके पद्यों की विषय-वस्तु स्वतंत्र होती है।अतः निरपेक्ष विषय-वस्तु वाले पद्यों के संग्रह को मुक्तक काव्य कहते हैं-

'छंदोबद्धपदंपद्यंतेनैकेन च मुक्तकम्'।(साहित्यदर्पण 6/313)

'धराकम्पते' ग्रन्थ के एक सौ एक श्लोकों में वर्तमान में पृथिवी की दयनीय संकटग्रस्त स्थिति को दर्शाया गया है। इसमें पर्यावरण संकट, सांस्कृतिक धरोहरों की संरक्षा से जुड़े सवाल, मूल्यों का अवमूल्यन, चारित्रिक ह्रास, विश्वव्यापी आतंकवाद तथा बढती जनसंख्या सदृश विविध समस्याओं से जूझ रही पृथिवी की मार्मिक वेदना का वर्णन किया गया है।एक ओर जहाँ भारत अपनी सांस्कृतिक धरोहरों के लिए विश्वप्रसिद्धहै, वहीं संस्कृति के संवाहक त्रेतायुगीन रामसेतु समेत राष्ट्रियगौरवों को नष्ट किया जा रहा है।हिमालयी क्षेत्रों में प्रकृति के संसाधनों का अधिकतम दोहन करते हुए वन, पर्वत, नदियाँ, समुद्र,वनस्पतियाँ, वायु, जल आदि प्राकृतिक संपदाओं का निरन्तर ह्रास हो रहा है, तथा बाढ़,भूस्खलन, वनाग्नि, बादल फटने जैसी असहनीय प्राकृतिक आपदाओं से भी मानव प्रकृति के साथ संघर्षरत रहा है।

गंगा जो भारत की प्राणधारा देवनदी कही जाती है, वह प्रदूषण जैसी संकटग्रस्त स्थिति से जूझ रही है।वनों के विनाश से पिघलते हिमनदों के द्वारा सदानीरा नदियों के सूखने से व्यथित धरा बाजारवादी शक्तियों के अंतर्गत बहुजनहितायप्रकृति प्रदत्त अनमोल उपहार तुलसी, नीम, गोमुत्र आदि को भूमण्डलीकरण के बाजार में पेटेन्टकिये जाने से चिंतित है।

©Indira Gandhi National Open University

वैश्विक आतंकवाद के घातक प्रहारों से सहमी यह पृथिवी विनाश की आशंका से काँप रही है।क्रूर हिंसा से खंडित महाविनाश की ओर जल-थल-नभ में युद्ध की विभीषिकाओं से अकाल मृत्यु को प्राप्त जीवधारियों अस्तित्व विनाश के कारण बढ़ते आतंकवाद से यह पृथिवी चिंतित है। वनों के कटान के कारण पृथिवी की रक्षाकवच के रूप में विद्यमान ओजोन परत का निरन्तर ह्रास हो रहा है। सूर्य की भयंकर ज्वालाओं द्वारा सम्पूर्ण जीवों को कष्ट किये जाने की आशंका से पृथिवीदु:खी है-

श्रीर्वनानांविपन्नायतेऽहर्निशं, वृक्षराजि: खलूच्छिद्यतेसन्ततम्।

तेन 'ओजोन' इत्युत्तमंवर्म न:, क्षीयमाणंविदित्वाधराकम्पते।।(धराकम्पते/41)

डॉ ऐनीबेसेण्टतथा मदनमोहनमालवीय जैसे शिक्षाविदों के द्वारा राष्ट्रनिर्माणकी दृष्टि से शिक्षा का जो उद्देश्य निर्धारित किया गया था, वर्तमान शिक्षा प्रणाली में वह कहीं दिखाई नहीं देता। मानवीय गुणों के विकास से परे अध्ययन सूचना एकत्रित करने तक ही सीमित वह दृष्टि निन्दित स्वार्थ के रूप में शिक्षा के मूल्यों से उपेक्षित है-

रट्यतेकेवलंपाठ्यमापातत:, शाब्दबोधोऽपिनापेक्ष्यतेतत्वत:।

नीरसांप्राणहीनां तथा जर्जरां,वीक्ष्यंशिक्षांपरीक्षांधराकम्पते।।(धराकम्पते/60)

काव्यकर्त्रीकमला गोहत्या की समस्या के प्रति भी विचारवान् है। भारतीय संस्कृति में गौ को माता के रूप में पूजा जाता है। परन्तु आधुनिक मानवों द्वारा गोमाता का निरादर किया जा रहा है।प्रतिदिन समाज में गोहत्या की घटनाएं दृष्टिगोचर हो रही हैं। कवयित्री का हृदय इस समस्या से विदीर्ण हो रहा है-

ऊर्ध्वलोकंगतासूचनार्थंप्रभुं, स्वीयं-गोरूपमाहन्यमानंभुवि।

पूरयन्तयार्तनादेनवैरोदसीं,कातराभीतिभीराधराकम्पते।।

प्राणघातोगवांकार्यतेभूरिशो, दुर्लभ: जातमासां पय: साम्प्रतम्।

'यूरियादे:' पदार्थस्यदुग्धीकृतं, रूपमालोक्यभीताधराकम्पते।।(धराकम्पते/74-75)

अपने गाय के स्वरुप को मारा जाता देख (गोहत्या होती देख) श्रीहरि को सूचना देने के लिए गाय का रूप धारण कर विष्णुलोक जाकर मानो अपने आर्तनाद से द्यावापृथिवी को कँपाती हुई कातर तथा डरी हुई धरा काँप रही है। प्रतिदिन गायों की बेतहाशा ह्त्या हो रही है। जिससे उनका दूध दुर्लभ हो गया है। आज यूरिया जैसे विष का दूध बनाकर बेचा जा रहा है-यह देख कर धरा काँप रही है।

नारी उत्पीड़नकी समस्या को भी कवयित्री ने उजागर किया है।नारी धरती,धरती नारी,कभी वह वसुधा(धन देने वाली), वसुंधरा (धन-धान्य धारण करने वाली) तथा मही (पूज्या) थी, तथा नारी महिला अर्थात् सम्मान की दृष्टि से देखी जाने योग्य। जहाँ नारी का सम्मान होता है वहाँ दिव्यता की उजास फैल जाती थी, किन्तु आज अपनी बदसूरती को बड़े अहंकार से आयने में निहारती नारी को देख धरा सिहर उठती है। अस्मिता को ताक में रख बाजार का खिलौना बनी नारी को देख वह हतप्रभ है।

नारी की विधवा दहन से वधू दहन तक की यात्रा की साक्षिणी उसकी बदनसीबी पर आंसू बहा रही है। सती के नाम पर शव की चिता के साथ धधकती नारी, सप्तपदी के सात फेरे लेते ही दहेज़ की बलिवेदी पर आग की लपटों में लिपटी नारी भोजन के साथ चटनी की तरह परोसी गयी 'वियाग्रा' की भेंट चढ़ती नारी को देख धरा नि:शब्दहै-

नूनमाजीवनंसंवहेत्वां प्रिये,इत्युपक्रम्यवह्निपुरोऽङ्गीकृताम्।

अर्थलोभेनपत्याऽनलेपातितां, वीक्ष्यदग्धांवधूटीधराकम्पते।।(धराकम्पते/80)

©Indira Gandhi National Open University

अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था में पड़ी मरी हुई जीवित तथा जीवित मरी हुई अरुणाशानबाग के साथ हुए घिनौने बलात्कार की कहानी सुन निराशा के गहन अन्धकारमें धरा डूब गई, न्यायपीठ पर बैठे लोग बलात्कारी को कदाचित् मृत्युदण्ड न दें।ऐसे राक्षसाधम जीवित बैठे हैं-

हन्त! नि:शब्दितांदुर्भगाश्चारूणां, शानबागेतिनाम्नींबलात्कर्षिताम्।

जीवितांवामृतांदुर्जनेनाऽऽहताम्, ईक्षमाणाप्रकामंधराकम्पते।।

मृत्युदण्डेनदण्डयंबलात्कारिणं, न्यायपीठेस्थितामोचयेयु: क्वचित्।

पापिनंतादृशं नाम रक्षोऽधमं, जीवितंवीक्ष्यमाणाधराकम्पते।।(धराकम्पते/83-84)

जहाँ स्त्रियों को पूजनीय माना जाता रहा है वहाँ आज स्त्रियों को केवल भोग की वस्तु समझा जा रहा है। 'यत्रनार्यस्तुपूज्यन्तेरमन्तेतत्र देवता: (मनुस्मृति:/तृतीय अध्याय/56) इस धर्मशास्त्रीय रहस्य को लोग समझ नहीं पा रहे हैं। यह सोचकर धरा विदीर्ण हो रही है।(धराकम्पते/77-78)

दहेज़ न मिलने के कारण स्त्रियों की हत्या, बलात्कार जैसे घिनौने कृत्यों से यह पृथिवीथरथराते हुए राक्षस प्रवृत्तियों के मनुष्यों का सामना कर रही है। भारतवर्ष में कन्या को देवी मानकर कुमारी पूजन की पवित्र परंपरा थी, वहीं कन्या भ्रूणहत्या जैसे अमानवीय कल्पना से यह पृथिवी निराश है।(धराकम्पते/81-85-92)

कलियुग की मार्मिक व्यथा के रूप में पुरुषों तथा स्त्रियों में कामुकता जैसे भोगसिद्धि हेतु शारीरिक चेष्टाओंद्वारा चरित्र के ह्रास की प्रवृत्तियों को देखा जा सकता है। अच्छे कुल में उत्पन्न स्त्रियाँ भी अब दूसरे पुरुषों से खुले तौर पर कामवासनाका भोग करने की इच्छुक हैं। घृणा का घर बने उनके शरीरों को देख धरा कांप रही है।(धराकम्पते/88)

इसके साथ ही बढती आबादी जैसी समस्याएँ सम्पूर्ण पृथिवी पर असंतुलित वातावरण उत्पन्न कर रही हैं। जग में दिन प्रतिदिन बढती जनसंख्या को देखकर, कलियुग के पाप के भर से टूटती दु:खीपृथिवीकाँप रही है-

जगती प्रचुरांदिने-दिने, जनसंख्यामवलोक्यवर्धिताम्।

कलिकल्मष भागभङ्गुरा, व्यथमाना वसुधा प्रकम्पते।।(धराकम्पते/95)

निरन्तर प्रतिभा का पलायन एवं निन्दित आचरणों से युक्त मनुष्यों का आदर हो रहा है। विकृत आचरण से समाज में चारों और बेमानी, चोरी, हत्या, लूटपाट, अपहरण जैसी घटनाएँ निरन्तर हो रही हैं।मानवीय मूल्यों के ह्रास एवं परमाणु शस्त्रों के दुरुपयोग से पृथिवीअपने ह्रास के अशुभ कारणों से दु:खी है।

विषरूपीधुएँ, विषाक्त जल तथा असहनीय ध्वनि प्रदूषण जैसी समस्याएँ मानव एवं पृथिवीके अस्तित्व के लिए खतरा बनी हुई हैं। रासायनिक खाद द्वारा धरती की उर्वरता में होने वाली कमी किसानों के लिए बड़ी समस्या है।

'धराकम्पते' काव्य में कॉपती हुई धरा की वेदनाओं तथा उसके कारणों की पड़ताल है जो जन-जीवन का ध्यान द्रवित करते हुए चिन्तनधारा में प्रवाहित करने हेतु पर्याप्त है। वर्तमान समय में अज्ञानता,भोगरूपी प्रवृत्ति एवं स्वार्थ के कारण मनुष्यों द्वारा ही इस धरा का विनाश किया जा रहा है। इस काव्य में भगवान् सूर्य से अन्धकारमयीपृथिवी को अपनी किरणों द्वारा रक्षा किये जाने का आह्वान किया गया है-वराह के समान ही फिर से सूर्य (अज्ञान रुपी) अन्धकार में ले जाई जाती हुई काँपती पृथिवी को अपनी किरणों (चैतन्य) रुपी दाँतों में धारण करें। अर्थात् विद्वान् शूरवीर पृथिवी की समझदारी से रक्षा करें-

पुनर्वराहवत्सूर: स्थापयेदंशुदंष्ट्रयो:।

कम्पमानांधरामन्धेनीयमानांरसातले।।(धराकम्पते/101)

©Indira Gandhi National Open University

पृथिवी पर फैली विभिन्न प्राकृतिक एवं मानवीय समस्याओं के प्रति जागरूकता की आवश्यकता है।निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है किमनुष्य को स्वयं के तथा पृथिवी के अस्तित्व को बचाए रखने के लिए मानवीय गुणों का विकास कर चिन्तन की आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-

1.साहित्यदर्पण, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

2.धराकम्पते, गंङ्गा साहित्य परिषद्, गंङ्गाग्राम, वाराणसी

3.मनुस्मृति,चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

©Indira Gandhi National Open University

'बौद्धन्यायानुसारं प्रमेयानां वैशिष्ट्यम्'

डॉ. कृष्णा कुमारी
सहायक आचार्य, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
लखनऊ-परिसर, लखनऊ
Email: krishnaboris12@gmail.com

सर्वेषामपि बुद्धोपदेशानां द्विविधं लक्ष्यम्। एकतस्ते समारोपापवादविनिर्मुक्तं शान्तं शिवं वस्तुतत्त्वं निर्दिशन्ति, अपरतश्च मानवानां जीवने जगति च विद्यमानानां विविधानां दुःखफलानां समस्यानां यन्मूलं वस्तुस्वरूपाज्ञानं तन्निराकरणे तेषां प्रयासः। भगवता बुद्धेन सर्वजनहितकारकं यद्धि तत्त्वज्ञानमाविष्कृतम्, तत् सर्वजनसामान्यं विधातुं तदनुयायिषु भिक्षुषु महान् उत्साहः, बलवती च प्रेरणा आसीत्। एषा लक्ष्यप्राप्तिः हेतुविद्यासमाश्रयेणैव सुशका। फलतश्च बौद्धेषु तस्या विद्यायाः समधिकं महत्त्वं परिलक्ष्यते। तेषु एतस्य सर्वस्य हेतुविद्याप्रवणस्य समारम्भजातस्य भगवान् बुद्ध एव प्रेरणास्रोतः। तेन भगवता स्वयमेव विरोधिमन्तव्यानि निराकुर्वता समसामयिकास्तैर्थिकाचार्यास्तर्कबहुलेन वादकौशलेन निगृहीताः[१], स्वानुयायिनश्च सम्प्रेरिताः। धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्रं च समुपदिशता भगवता आर्याष्टाङ्गिकमार्गे इदम्प्रथमतया सम्यग्दृष्टये यत् स्थानं निर्दिष्टम्, तस्यापि इदमेव स्वारस्यम्। सम्यग्दृष्टिर्हि सम्यग्ज्ञानम्। सम्यग्ज्ञानमेव च बौद्धानां प्रमाणलक्षणमिति।[२] तद् द्विविधं प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति।[३]

मानाधीना मेयसिद्धिरिति सर्वतन्त्राभ्युपगमः। यथा न्यायदर्शने उक्तमस्ति यत् किं पुनरनेन प्रमाणेनाऽर्थजातं प्रमातव्यमिति? तदुच्यते-

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।[४] नैयायिकादयः प्रमाणसंख्यानिरधारणे प्रतिनियतार्थव्यवस्थां नानुमन्वते। अतः नैयायिकादयः सम्पलववादिनः, बौदास्तु व्यवस्थावादिनः, यतोहि बौद्धाः मेयाधीना मानसिद्धिरपीति। तथाहि- **मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात्।**[५] प्रमाणमविसंवादादविसंवादश्चार्थादुत्पत्तेरर्थाव्यभिचारतः। प्रत्यक्षानुमानञ्च प्रामाण्यं नान्यतः, शाब्दादित्वादित्यर्थः। ननु शब्दादीनामर्थप्रतिबन्ध एव नास्तीति प्रमेयद्वैविध्यात्। प्रमेयाव्यभिचारतः प्रामाण्यम्। न च प्रमेयमन्तरेण प्रमेयाव्यभिचारः। प्रमेयञ्च प्रत्यक्षानुमानप्रतिपाद्यादपरं नास्ति। यदाह- न हि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामपरं प्रमेयमस्ति। स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षम्।[६] सामान्यलक्षणविषयमनुमानमिति[७] प्रतिपादयिष्यामः। एतदेव प्रतिपादयति- मानं द्विविधमिति।[८] अथ मेय तावद् द्विविधम्। सदृशासदृशत्वात् स्वसामान्यलक्षणञ्च।[९]

स्वलक्षणम्- चतुर्विधस्य प्रत्यक्षस्य विषयो बोद्धव्यः स्वलक्षणम्। स्वमासाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम्। यस्य ज्ञानविषयस्य संनिधानादसंनिधानाच्च ज्ञानप्रतिभासस्य ग्राह्याकारस्य भेदः स्फुटत्वास्फुटत्वाभ्याम्। यो हि ज्ञानविषयः संनिहितः सन् स्फुटाभासं ज्ञानस्य करोति, असंनिहितस्तु योग्यदेशस्थ एवास्फुटं करोति, तत् स्वलक्षणम्। सर्वाण्येव हि वस्तूनि दूरादस्फुटानि दृश्यन्ते, समीपे स्फुटानि। तान्येव स्वलक्षणानि।[१०] य एवार्थः सन्निधानासन्निधानाभ्यां स्फुटमस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसन् स एव।[११] स च प्रत्यक्षस्य विषयो यतः, तस्मात् तदेव स्वलक्षणम्। पुनः कस्मात्तदेव परमार्थसदित्याह- यस्मादर्थक्रियासमर्थं परमार्थसदुच्यते, सन्निधाना-सन्निधानाभ्यां च ज्ञानप्रतिभासस्य भेदकोऽर्थोऽर्थक्रियासमर्थः, तस्मात् स एव परमार्थसन्। तत एव हि प्रत्यक्षविषयादर्थक्रिया प्राप्यते न विकल्पविषयात्। अत एव यद्यपि विकल्पविषयो दृश्य इवावसीयते तथापि न स दृश्य एव ततोऽर्थक्रियाया अभावात्, दृश्याच्च भावात्। अतस्तदेव स्वलक्षणं न विकल्पविषयः।[१२]

सामान्यलक्षणम्- अनुमानस्य विषयः बोद्धव्यः सामान्यलक्षणम्। स्वलक्षणाद् यद् अन्यत् तत् सामान्यलक्षणम्, विकल्पज्ञानेनावसीयमानो ह्यर्थः सन्निधाना-सन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासं न भिनत्ति। तथाहि आरोप्यमाणो

©Indira Gandhi National Open University

वह्निरारोपादस्ति। आरोपाच्च दूरस्थो निकटस्थश्च। तस्य समारोपितस्य सन्निधानासन्निधानाच्च ज्ञानप्रतिभासस्य न भेदः स्फुटत्वेनास्फुटत्वेन वा। ततः स्वलक्षणादन्य उच्यते।[१३] सामान्येन लक्षणं सामान्यलक्षणम्।

स्वसामान्यलक्षणाभ्यां व्यतिरिक्तो नास्ति कश्चन तृतीयः पदार्थराशिः। नास्ति च स्व-सामान्योभयात्मकः कश्चन पदार्थः, परस्परविरुद्धयोरैकात्म्यायोगात्। फलतः प्रमेयद्वैविध्यात् प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणं द्विविधम्।

प्रत्यक्षम्- तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्।[१४] पूर्वोपरमनुसन्धाय शब्दसङ्कीर्णाकारा प्रतीतिर्जल्पकारा वा कल्पना। यथा विज्ञपुरुषस्य सोऽयं घट इति प्रतीतिः। बालमूकतिर्यगादीनामन्तजल्पाकारा परामर्शरूपा वा प्रतीतिः। तथा चोक्तम्- **अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना।**[१५] तत्र काचित् प्रतीतिरभिलापसंसृष्टाभासा भवति। यथा व्युत्पन्नसङ्केतस्य घटार्थकल्पना घटशब्दसंसृष्टार्थावभासा भवति। काचित्त्वभिलापेनासंसृष्टापि अभिलापसंसर्गयोग्याभासा भवति। यथा बालकस्याव्युत्पन्नसङ्केतस्य कल्पना। तत्र 'अभिलापसंसृष्टाभासा कल्पना' इत्युक्तावव्युत्पन्नसङ्केतस्य कल्पना न संगृह्येत। योग्यग्रहणे तु सापि संगृह्यते। यद्यपि अभिलापसंसृष्टाभासा तु भवत्येव। या चाभिलापसंसृष्टा सापि योग्या। तत उभयोरपि योग्यग्रहणेन संग्रहः। तया कल्पनया कल्पनास्वभावेन रहितं शून्यं सज्ज्ञानं यदभ्रान्तं तत् प्रत्यक्षम् इति परेण सम्बन्धः। भ्रान्तमपि ज्ञानं नार्थसाक्षात्कारि। भ्रान्तं ह्यर्थक्रियासमर्थे वस्तुनि विपर्यस्तमुच्यते। अर्थक्रियाक्षमं च वस्तुस्वरूपं देशकालाकारनियतं, तत्कथं विपरीतप्रतिभासिना भ्रान्तेन ज्ञानेन साक्षात्क्रियते। यदाह- **तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।**[१६] एतेन कामलिनः शुक्ले शंखं पीतप्रतिभासि ज्ञानं, भ्रमादलातादौ चक्रादिनिर्भासि ज्ञानं, गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य चलद्वृक्षादिभ्रान्तिज्ञानं गाढमर्मप्रहाररहितस्य ज्वलत्स्तम्भादिप्रतिभासि ज्ञानं च, न प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति।

चत्वारः खलु शास्त्रेषु प्रत्यक्षस्य भेदाः, तथाहि- इन्द्रियप्रत्यक्षम्, मानसप्रत्यक्षम्, स्वसंवेदनप्रत्यक्षम्, योगिप्रत्यक्षं चेति।[१७]

अनुमानम्- मीयतेऽर्थोऽनेनेति मानम्।[१८] अनेन तावत् साधकतमेन करणेन सारूप्यलक्षणं प्रमाणं मीयते। पश्चान्मानम्। लिङ्गग्रहण-सम्बन्धस्मरणयोः पश्चाद् मानमनुमानम्। अनुमानलक्षणं तावदाचार्यदिङ्नागेन एवं प्रतिपादितम्। यथा-

'अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम्।'[१९]

स्वार्थं परार्थं चेत्यनुमानस्य भेदद्वयम्।[२०] स्वार्थं तावज्ज्ञानात्मकम्। येन स्वयं प्रतिपद्यते परीक्षार्थं तत् स्वार्थानुमानम्। स्वस्मै यत् तत् स्वार्थमिति व्युत्पत्तिः। आचार्यधर्मकीर्तिना एतस्य लक्षणं अनेन कथितम्-

"तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।"[२१]

तत्र तयोः स्वार्थपरार्थानुमानयोर्मध्ये, स्वार्थं ज्ञानं किं वैशिष्ट्यम् इत्याह- त्रिरूपाद् इति, त्रीणि रूपाणि यस्य वक्ष्यमाणानि लक्षणानि तत् त्रिरूपम्। लिङ्ग्यते गम्यतेऽनेनाऽर्थ इति लिङ्गम्। तस्मात् त्रिरूपाल्लिङ्गात् यज्ज्ञातं ज्ञानम् अथवा त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यद् अनुमेयालम्बनं ज्ञानं तत् स्वार्थानुमानम् इति। अनेन रूपत्रययुक्तालिङ्गादनुमेये परोक्षविषये यद् ज्ञानं प्रतिपत्तुरुत्पद्यते, तत् स्वार्थानुमानम्। बौद्धमतानुसारं साधनवाक्यं द्विविधम्। व्याप्तिपक्षधर्मतासंज्ञकञ्च। अयमेव लिङ्गस्य त्रिरूपत्वमुच्यते अनुमेये पर्वतादौ धर्मिणि लिङ्गस्यास्तित्वमेव निश्चितम्, तदेकं रूपं पक्षधर्मतासंज्ञकम्। द्वितीयं रूपं सपक्ष एव सत्त्वं निश्चितम्[२२] अर्थात् सपक्ष एव सत्त्वं निश्चितमित्यन्वयसंज्ञकम्। तृतीयं रूपम् असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्[२३] अर्थात् न सपक्षोऽसपक्षः। तत्रासत्त्वमेव निश्चितं व्यतिरेकसंज्ञकम्। त्रिरूपस्य त्रीण्येव लिङ्गानि।[२४] लिङ्गस्यापरनामानि साधनं ज्ञापकं हेतुर्व्याप्यं चेति। त्रीणि लिङ्गानि एतानि सन्ति-

अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यञ्चेति।[२५]

तदनु परार्थं तावद् वचनात्मकम्। येन परं प्रतिपादयति तत्परार्थमिति। परस्मै यत् तत् परार्थानुमानमिति। अस्य तावल्लक्षणं धर्मकीर्तिना इत्थं प्रतिपादितम्- **"त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानम्।"**[२६] इति। स्वार्थानुमाने एवानुमानशब्दस्य प्रयोगो मुख्यः। अनुमानोत्पादकत्वात् परार्थस्याप्यनुमानत्वम्, कारणे कार्योपचारात्।[२७]

©Indira Gandhi National Open University

अनेन प्रकारेण स्पष्टं भवति यत् कल्पनापोढस्यैव च ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्, तेन च लोकस्य संव्यवहाराभावात् लौकिकस्य च प्रमाणप्रमेयव्यवहारस्य व्याख्यातुमिष्टत्वाद् व्यर्थैव प्रत्यक्षप्रमाणकल्पना संजायते। चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी नीलं जानाति नो तु नीलमिति चागमस्य प्रत्यक्षलक्षणाभिधानार्थस्याप्रस्तुतत्वात्, पञ्चानामिन्द्रियविज्ञानानां जडत्वप्रतिपादकत्वाच्च नागमादपि कल्पनापोढस्यैव विज्ञानस्य प्रत्यक्षमिति न युक्तमेतत्। तस्माल्लोके यदि लक्ष्यं यदि वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा, सर्वमेव साक्षादुपलभ्यमानत्वादपरोक्षम्, अतः प्रत्यक्षं व्यवस्थाप्यते तद्विषयेण ज्ञानेन सह। द्विचन्द्रादीनां तु अतैमिरिकज्ञानापेक्षया अप्रत्यक्षत्वम्, तैमिरिकाद्यपेक्षया तु प्रत्यक्षत्वमेव।

परोक्षविषयं तु ज्ञानं साध्याव्यभिचारिलिङ्गोत्पन्नमनुमानम्।[२८]

तानि च परस्परापेक्षया सिध्यन्ति, सत्सु प्रमाणेषु प्रमेयार्थाः, सत्सु प्रमेयेष्वर्थेषु प्रमाणानि। नो तु खलु स्वभाविकी प्रमाणप्रमेययोः सिद्धिरिति।[२९] प्रमेयसंख्याधीना प्रमाणद्वयसंख्याऽपि सिध्यतीति। तथाहि-

बद्धोक्तेषु परोक्षेषु जायते यस्य संशयः।

इहैव प्रत्ययस्तेन कर्तव्यः शून्यतां प्रति।।[३०]

कारिकामिमां व्याचक्षाण आचार्यचन्द्रकीर्तिः प्रमेयद्वित्वं प्रतिपादयन्नाह-

"न हि सर्वे भावाः प्रत्यक्षज्ञानगम्याः, अनुमानगम्या अपि विद्यन्ते"।[३१]

मानवानां जीवने जगति च विद्यमानानां विविधानां दुःखफलानां समस्यानां यन्मूलं वस्तुस्वरूपाज्ञानं सम्यग्ज्ञानेनैव हेयम्। सम्यग्ज्ञानमेव सर्वदुःखप्रपञ्चोपशमोपायः सर्वविधपुरुषार्थसिद्ध्युपायश्च[३२]।

सन्दर्भ-संकेत

---

१ दीघनिकाय, प्रथमभाग, पोट्ठपादसुत्त, तेविज्जसुत्तं
मज्झिमनिकायपालि, अस्सलायनसुत्तं

२ आचार्यमोक्षाकरगुप्तविरचिता तर्कभाषा, पृ-1, सम्पादक- लोसङ् नोरबू शास्त्री, प्रकाशक- के.उ.ति.शि.सं.सारनाथ, वाराणसी, 2004

३ आचार्यमोक्षाकरगुप्तविरचिता तर्कभाषा, पृ-4

४ न्यायदर्शनम्, पृ-21, सम्पादक- स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, प्रकाशक- बौद्धभारती, वाराणसी, 1999

५ प्रमाणवार्तिकम्, 2:1, पृ-409, सम्पादक- स्वामी योगीन्द्रानन्द, प्रकाशक- षड्दर्शनप्रकाशन संस्थान, वाराणसी, 1991

६ 'तस्य विषयः स्वलक्षणम्' न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-149, सम्पादक- डॉ. लोब्संग दोर्जे रबलिङ्ग, ठिनले शाशनी, प्रकाशक- के.ति.अ.वि.सारनाथ, वाराणसी, 2010

७ 'सोऽनुमानस्य विषयः' न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-151

८ वार्तिकालङ्कारभाष्यम्, पृ-410, सम्पादक- स्वामी योगीन्द्रानन्द, प्रकाशक- षड्दर्शनप्रकाशन संस्थान, वाराणसी, 1991

९ प्रमाणवार्तिकम्, 2:2, पृ-411

१० 'यस्यार्थस्य संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभास भेदस्तत् स्वलक्षणम्' न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-149

११ 'तदेव परमार्थसत्' न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-150

१२ 'अर्थक्रियासामार्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः' न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-150

१३ 'अन्यत सामान्यलक्षणम्' न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-150

१४ आचार्यमोक्षकरगुप्तविरचिता तर्कभाषा, पृ-13;

©Indira Gandhi National Open University

न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-142

[१५] न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-144

[१६] न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-145

[१७] न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-146

[१८] आचार्यमोक्षकरगुप्तविरचिता तर्कभाषा, पृ-5

[१९] प्रमाणसमुच्चयः, 1:17

[२०] न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-154

[२१] तत्रैव

[२२] आचार्यमोक्षाकरगुप्तविरचिता तर्कभाषा, पृ-28

[२३] तत्रैव

[२४] तत्रैव

[२५] न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-158

[२६] न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-154

[२७] तत्रैव

[२८] मध्यमकशास्त्रम्, द्वितीय संस्करणम्, पृ-28, सम्पादक- डॉ श्रीधर त्रिपाठी, प्रकाशक- मिथिलाविद्यापीठ, दरभङ्गा, 1987

[२९] तत्रैव

[३०] चतुःशतकम्, 12:5, उद्धृतोऽयं श्लोकः सोत्रान्तिकदर्शने, पृ-437, ग्रन्थकारः - प्रो. रामशंकर त्रिपाठी, प्रका- के.उ.ति.शि.सं, सारनाथ, वाराणसी, 1990

[३१] तत्रैव

[३२] 'सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद् व्युत्पाद्यते' न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तर टीका, पृ-136

©Indira Gandhi National Open University

अथर्ववेद में विश्वबंधुत्व

डॉ. कमलेश रानी
सह आचार्य, संस्कृत विभाग
कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email: kamalbattra@gmail.com

जिस प्रकार समग्र वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र विश्वबन्धुत्व का वर्णन प्राप्त होता है, उसी प्रकार अथर्ववेद में भी विश्वबंधुत्व के वर्णन सर्वत्र दर्शनीय हैं। विश्वबन्धुत्व की भावना के लिए जैसे यजुर्वेद के 32वें अध्याय के अष्टम मन्त्र में कहा गया है- **वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सत्। यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्॥** अर्थात् ज्ञानी मनुष्य उस ब्रह्म को गुप्त स्थान में अथवा बुद्धि में अवस्थित तथा त्रिकालबाधित-नित्य है, ऐसा देखता है। वैसे ही अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के प्रथम मन्त्र में कहा गया है- **वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्॥** अर्थात् भक्त ही उस परमश्रेष्ठ परमात्मा को देखता है, जो हृदय की गुफा में है और जिसमें सम्पूर्ण जगत् एक रूप हो जाता है। कहने का भाव यह है कि प्रत्येक भक्त अथवा ज्ञानी मनुष्य समग्र विश्व के लोगों में आत्मभाव को देखता है। इस प्रकार न कोई धर्म, न कोई पन्थ, न कोई सम्प्रदाय और न तो कोई देश उस परम तत्त्व से अलग है अपितु सब एक है। सब एक सूत्र में माला की तरह पिरोंएँ गये हैं। अतः इससे बड़ा और विश्वबन्धुत्व क्या हो सकता है? जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है- **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति॥**[1] अर्थात् सत् एक ही है परन्तु विद्वान् लोग उसको विविध रूपों में कहते हैं किंवा बतलाते हैं। अथर्ववेद के उच्छिष्ट ब्रह्म सूक्त में कहा गया है-

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।

उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्।

आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वातः आहितः॥[2]

अर्थात् उच्छिष्ट अर्थात् अवशिष्ट आत्मा में नाम और रूप तथा उच्छिष्ट में लोक-लोकान्तर स्थित हैं। उच्छिष्ट में इन्द्र और अग्नि तथा उसके अन्दर सम्पूर्ण विश्व समाया हुआ है। उच्छिष्ट में द्युलोक और भूलोक तथा समस्त भूत मात्र अवस्थित हैं। जल, समुद्र, चन्द्रमा, वायु ये सब उसी में अवस्थित हैं। इस प्रकार इन मन्त्रों में भौतिक तथा आध्यात्मिक स्तर के विश्वबन्धुत्व की भावभूमि को ऋषि अथर्वा ने लोक कल्याण के निमित्त प्रस्तुत किया है। इसी सूक्त के 14वें मन्त्र में ऋषि का कथन है-

नव भूमिः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः।

आसूर्यो भाव्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयिं॥[3]

अर्थात् नवभूमि (भरत, किम्पुरुष, भद्र, हरि, हिरण्य, केतुमाल, इलावर्त, कुरु और रम्युक), सब समुद्र और द्युलोक भी उच्छिष्ट में आश्रित है। सूर्य उच्छिष्ट में ही प्रकाशता है, जिससे अहोरात्र होते हैं। यह सब ज्ञान मुझमें रहे। इस प्रकार इस मन्त्र में समग्र भूमण्डल को एक ही बतलाया गया है। अतः इससे बढ़कर विश्वबंधुत्व और क्या हो सकता है? अथर्ववेद के चतुर्थकाण्ड के ब्रह्मविद्या सूक्त में विश्वबन्धुत्व की अनुपम झलक देखने को मिलती है, जिसमें कहा गया है-

---

[1] ऋग्वेद- 1.164.46

[2] अथर्ववेद-काण्ड-11, सूक्त-7, मन्त्र-1-2

[3] अथर्ववेद-काण्ड-11, सूक्त-7, मन्त्र-14

©Indira Gandhi National Open University

स हि दिव: स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत् ।

महान्मही अस्कभायद्वि जातो द्यां सद्भ्र पार्थिवं च रजः ॥

स बुध्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् ।

अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्रा: ।[4]

अर्थात् वही एक देव (पर ब्रह्म) द्युलोक और पृथ्वीलोक आदि को सत्य नियमों से अपने-अपने स्थान में स्थिर करने वाला है। उसी ने इस द्युलोक और पृथिवीलोक को घर जैसा बनाया है। उसी प्रकट हुए महान् देव ने द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और इस हमारे घर के समान भूलोक को विस्तृत और महान् बनाकर अपने-अपने स्थान में सुदृढ़ किया है। इस जगत् का एक सम्राट बृहस्पति देव है, वह आदिकाल से चारो ओर पूर्ण रीति से फैला हुआ है। उसकी ज्योति से जो पवित्र दिन का प्रकाश होता है, उससे प्रकाशित होने वाले ज्ञानी विशेष प्रकार से जीवन व्यतीत करें। इन मन्त्रों में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक जगतत्रय की दृष्टि से समग्र भूमण्डल को एक बतलाया गया है। समग्र भूमण्डल के मनुष्यों का देवता (भगवान्) भी एक है। प्रकाशित होने वाले भगवान् सूर्य भी एक हैं। पृथ्वी और भूमण्डल भी एक सूत्र में ही बंधे हुए हैं। अतः इन मन्त्रों में मन्त्रद्रष्टा ऋषि द्वारा कथित वैश्विकबन्धुत्व अत्यन्त विचारणीय है। यह विषय वर्तमान समय में अत्यन्त विचारणीय है। इसकी प्रासंगिकता हैं क्योंकि आज समग्र देश पारस्परिक कलह और अन्तर्द्वेष से झुलस रहे हैं। ऐसे में इस प्रकार के वैदिक ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिए प्रत्येक सुधीजन को इस प्रकार के ज्ञान पर विचार-विमर्श करना और जन-जन तक पहुंचाना चाहिए।

अथर्ववेद के चतुर्थकाण्ड में ही द्वितीय सूक्त के अन्तर्गत आया है कि हम किस देवता की उपासना करें? अर्थात् **कस्मै देवाय हविषा विधेम ?** इसी सूक्त के अधोलिखित मन्त्र में कहा गया है -

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः ।

ईमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम् ॥

आपो अग्ने विश्वमावन्गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञा: ।

यासु देवीष्वधि देव आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।[5]

अर्थात् जिसके बल से हिमयुक्त ऊँचे पर्वत खडे हुए हैं, प्राणियों के रहने के लिए समुद्र में भूमि बनी है और जब दिशा-उपदिशाएँ, जिसकी बाहुओं के समान फ़ैली हैं। सत्य नियम से चलने वाली, जीवन देने वाली, गर्भधारण करके प्रजा उत्पन्न करने वाली प्रकृतिरूप जल की धाराएं जब विश्वरचना के लिए आगे बढ़ी तब उनका संचालन करने वाला जो एक देव था, उसी देवता की हम सब पूजा करें। यह मन्त्र यजुर्वेद में भी आया हुआ है। इस मन्त्र में समग्र विश्व का रचयिता एक मात्र परमात्मा को बतलाया गया है। इस चराचर जगत् में व्याप्त समस्त तत्त्वों, द्रव्यों तथा जीव-जगत् का रचयिता परमात्मा है। सब प्राणी पृथ्वी के किसी भी भाग के हों सब परमेश्वर की सन्तानें हैं, यह हमें जानना चाहिए। इसी अनुरूप हमें मनसा, वाचा, कर्मणा व्यवहार करना चाहिए। इन मन्त्रों के विश्वबंधुत्व का यही अभिप्राय है।

अथर्ववेद के प्रथमकाण्ड के प्रथम सूक्त के अंतर्गत संगठन महायज्ञ का वर्णन किया गया है। इस संगठन महायज्ञ सूक्त में बहुत ही उत्कृष्ट विश्वबन्धुत्व भाव का निर्देश किया गया है। राष्ट्र अथवा राष्ट्रेतर सन्दर्भ में इस प्रकार की बात पर अवश्य विचार करना चाहिए। सूक्त के अधोलिखित मन्त्रों में ऋषि अथर्वा का कथन है –

सं सं स्रवन्तु सिन्धव: सं वाता: सं पतत्रिण: ।

[4] अथर्ववेद-काण्ड-4, सूक्त-1, मन्त्र-4-5
[5] अथर्ववेद-काण्ड-4, सूक्त-2, मन्त्र-5-6

©Indira Gandhi National Open University

इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि।

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।

इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदगक्षिताः॥

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि॥

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च।

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि।[6]

अर्थात् जिस प्रकार नदियाँ मिलकर बहती हैं, वायु मिलकर बहती हैं, पक्षी भी मिलकर उड़ते हैं, उसी प्रकार दिव्य जन भी इस मेरे यज्ञ में मिलजुल कर सम्मिलित हो, क्योंकि मैं संगठन को बढाने वाले अर्पण से ही यह संगठन का महायज्ञ कर रहा हूँ। सीधे मेरे इस संगठन महायज्ञ में आ जाओ और हे संगठन के साधक वक्ता जन ! तुम अपने उत्तम संगठन बढ़ाने वाले वक्तृत्वों से इस संगठन महायज्ञ को फैला दो । जो हम सब में पशुभाव हो, वह यहाँ इस यज्ञ में आवे और हम सब में धन्यता का भाव चिरकाल तक निवास करे। जो नदियों के अक्षय स्रोत इस संगठन महायज्ञ में बह रहे हैं, उन सब स्रोतों से हम अपना धन संगठन द्वारा बढ़ाते हैं। क्या घी, क्या दूध और क्या जल की जो धाराएँ हमारे पास बह रही हैं, उन सब धाराओं से हम अपना धन इस संगठन द्वारा बढ़ाते हैं ? अर्थात् नहीं। इसलिए इन मन्त्रों के माध्यम से मनुष्य मात्र को यह सांकेतिक उपदेश है कि वह समग्र क्षेत्रों में अपनी उन्नति का माध्यम संगठन को बनावें । परन्तु आज के समय में संगठन विच्छिन्न होते जा रहे हैं । घर-परिवार, समाज, जनपद, मण्डल, राज्य, राष्ट्र सब में विघटन होता जा रहा है । स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। इस मन्त्र में मन्त्रदृष्टा ऋषि का यह उपदेश नितान्त विचारणीय है कि वह ज्ञानयज्ञ किंवा ज्ञान की विचारधारा के द्वारा समाज एवं राष्ट्र को सुसंगठित करे । इस संगठन के निर्माण में ऋषि ने नदियों, वायु तथा पक्षियों के समूह की शक्ति का उदाहरण दिया है। इसलिए हम मनुष्यों का परम कर्तव्य है कि अपने बहुमुखी विकास के लिए हम संगठन में आवें । इसी में हम सब की भलाई है । अथर्ववेद के सप्तम कांड के मातृभूमि सूक्त में विश्वबन्धुत्व की भावना का निदर्शन होता है, जिसमें कहा गया है-

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।

विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥[7]

अर्थात् मातृभूमि ही हमारा (समग्र विश्व का) स्वर्ग है, वही अन्तरिक्ष है, वही माता, पिता और पुत्रपौत्र है, वही हमारा सब प्रकार का देवता (विश्वदेवता) है और वही हमारी जनता है, बना हुआ और बनने वाला सबकुछ पदार्थ हमारे लिए मातृभूमि ही है। हमारी मातृभूमि पर ही पाँच प्रकार के लोग हैं- ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कारीगर और अशिक्षित; ये पाँच प्रकार के लोग प्रत्येक राष्ट्र में रहते हैं । मातृभूमि इन्हीं से पूर्ण होती है, इसलिए कहा जाता है कि मातृभूमि में पाँच प्रकार के लोग हैं और पाँच प्रकार के लोग ही मातृभूमि है। अर्थात् मातृभूमि का अर्थ इन पांच प्रकार के लोगों के साथ अपनी भूमि है। विश्वबन्धुत्व का एक और अनुपम उदाहरण अथर्ववेद के सप्तमकाण्ड के मेघों में सरस्वतीसूक्त में मिलता है, जिसमें ऋषि शौनक का कथन है-

यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम्।

[6] अथर्ववेद-काण्ड-1, सूक्त-15, मन्त्र-1-4

[7] अथर्ववेद-काण्ड-7, सूक्त-1, मन्त्र-1

©Indira Gandhi National Open University

मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य ॥[8]

अर्थात् हे सरस्वती! जो तेरा विस्तृत और गर्जना करने वाला, स्वयं वृष्टि रूप से प्रवाहित होने वाला, जिसमें बिजली की चमक होती है और जो इस विश्व का भूषण होता है, वह मेघ अपनी बिजली से हमारा नाश न करे, परन्तु ऐसा भी न हो कि आकाश में बादल न आयें और सूर्य के ताप से हमारी खेती जल जावे। अर्थात् आकाश में बादल आयें, मेघ बरसे और खेती उत्तम हो, परन्तु मेघों की विद्युत से किसी का नाश न होवे। इस प्रकार इस मन्त्र के अन्तर्गत वैश्विकस्तर पर विश्वबन्धुत्व की भावना का निदर्शन होता है। यहाँ पर समग्र विश्व के कृषकों की कृषि की मंगल कामना की गई है। सूर्य के तपन से बादल बनते हैं और फिर वर्षा होती है। जिससे उत्तम कृषि होती है। इस मन्त्र के अन्दर ऋषि के द्वारा सरस्वती से यह प्रार्थना की गई है कि अतिवृष्टि भी न हो और अनावृष्टि भी न होवे। बादल समयानुसार और कृषि की आवश्यकतानुसार बरसें जिससे कि समग्र विश्व के कृषकों का नुकसान न होने पावे।

अथर्ववेद के सप्तम काण्ड के सूर्य-चन्द्र सूक्त में घर के दो (उत्तम) बालक में ऋषि अथर्वा का कथन है-

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।

विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नमः ॥[9]

अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् एक बड़ा घर है, इस घर में हम सब रहते हैं। इस घर में दो आदर्श बालक हैं, इन बालकों का नाम 'सूर्य और चन्द्र' है। हमारे घर में बालक कैसे हो और माता पिता को प्रयत्न करके अपने घर के बालकों को किस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए और बालक कैसे बनने चाहिये, इस विषय का उपदेश इस मन्त्र में दिया गया है। अत: विश्व के प्रत्येक गृहस्थ को अपनी सन्तानों को सूर्य और चन्द्र सदृश उचित शिक्षा-दीक्षा और संस्कार के द्वारा बनाना चाहिए। जिस प्रकार भगवान् सूर्य देश-देशान्तर में भ्रमण करते हुए अपने प्रकाश से इस समस्त जगत् को प्रकाशित करते हैं तथा अन्धकार में डूबे हुए जगत् को आलोकित करते हैं, उसी प्रकार संसार के समस्त गृहस्थ अपने बालक को उत्तम ज्ञानी बनावें जिससे वह अज्ञान के अन्धकार में डूबे हुए लोगों को ज्ञान के प्रकाश में लावें और लोककल्याण सम्भव हो सके। डॉ. सातवलेकर ने अपने अथर्ववेद के भाष्य में लिखा है कि सूर्य और चन्द्र पर रूपक इस मन्त्र में है। पाठक इसका उचित विचार करें और अपने बालकों की शिक्षा आदि के विषय में योग्य उपदेश प्राप्त करें किंवा देवें। अतः एक सूर्य जैसा तेजस्वी और प्रतापवान् पुत्र होवे जो जगत् को प्रकाश और यश देवे तथा एक चन्द्र जैसा पुत्र होवे जो कि नवजीवन (दीर्घायुष्य) प्राप्त करने की विद्या का सम्पादन करके नवीन जैसा होवे और दीर्घायु प्राप्त करे और लोगों को भी दीर्घायु प्राप्त करने योग्य बनावे। इस प्रकार इस मन्त्र में वैश्विक विश्वबन्धुत्व की कामना का अनुपम निदर्शन होता है।

इस संसार का प्रत्येक जीवात्मा विश्वबन्धुत्व से संयुक्त है। कोई भी जीव आध्यात्मिक धरातल पर अलग नहीं है। सबसे बड़ा यही विश्वबन्धुत्व है। अथर्ववेद के अधोलिखित मन्त्र में यह भावना दृष्टिगोचर होती है, जिसमें कहा गया है –

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम्।

उत्तानयोश्चम्बोर्योनिरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाघात् ॥[10]

[8] अथर्ववेद-काण्ड-7, सूक्त-12, मन्त्र-1
[9] अथर्ववेद-काण्ड-7, सूक्त-81, मन्त्र-1
[10] अथर्ववेद-काण्ड-9, सूक्त-10, मन्त्र-11-12

©Indira Gandhi National Open University

अर्थात् यह जीवात्मा इन्द्रियों का रक्षक है और स्वयं पतनशील नहीं है। वह परमात्मा इसके (प्रत्येक जीवात्मा) के साथ है, सर्वत्र व्याप्त है और सब पदार्थों में विराजमान है । वह परमात्मा द्यु अर्थात् सूर्य के समान प्रकाशमान है, वही हम सबका पिता, जनक, बन्धु और केन्द्र है। यह पृथ्वी अर्थात् प्रकृति हमारी माता है । यह पिता इस दुहिता रूपी प्रकृति में गर्भ का आधान करता है जिससे सब सृष्टि उत्पन्न होती है। इन दोनों प्रकृति-पुरुष में सबका उत्पत्ति स्थान है। इस प्रकार इस मन्त्र में आध्यात्मिक स्तर के विश्वबन्धुत्व की भावना का निदर्शन है। समग्र देश-देशान्तर में उत्पन्न हुए जीव एक ही परमात्मा की सन्तानें हैं । इस पर विचार-विमर्श करके सभी को पारस्परिक विश्वबंधुत्व की भावना को जागृत करना चाहिए और सत्यतः व्यवहृत करना चाहिए । इसी से समग्र लोक का कल्याण-मङ्गल सम्भव है अन्यथा वर्तमान में देश-देशान्तरों में जिस प्रकार का पारस्पारिक कलह चल रहा है, वह समग्र लोक के लिए अमङ्गलकारी है । प्रस्तुत शोधपत्र के अन्तर्गत संक्षिप्त रूप से अथवर्वेद के कतिपय मन्त्रों को उदाहृत किया गया है। वस्तुतः समग्र अथर्ववेद के मन्त्रों में इस प्रकार की भावना सर्वत्र भरी हुई है । अथवर्वेद में भी कही गई उक्ति - 'संगच्छध्वं संवदध्वं' इस बात का परम प्रमाण है।

©Indira Gandhi National Open University

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति

डॉ. मुकेश कुमार मिश्र
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
देशबन्धु महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email: mukeshsnk@gmail.com

शोधसार

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति कहाँ और कब हुई? - यह एक ऐसा विषय है, जो आज भी पुरातत्त्ववेत्ताओं, इतिहासकारों व विद्वद्समाज के मध्य पर्याप्त चर्चा का विषय रहा है। प्राच्य एवं प्रतीच्य दोनों ही विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टियों से इसका निराकरण करने का प्रयास किया। औपनिवेशिक सत्ता व मानसिकता से प्रभावित प्रायः प्रतीच्य विद्वानों ने ब्राह्मी की उत्पत्ति के विषय में विदेशी उद्भव के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर उसे स्वीकार किया है। किन्तु कुछ ऐसे प्रतीच्य विद्वान् भी थे जिन्होंने नीरक्षीरविवेक से ब्राह्मी की उत्पत्ति के विषय में विचार किया है। साथ ही भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं एवं प्राच्य आचार्यों ने भी इस विषय का सूक्ष्म व गहन रूप में चिन्तन, मनन, मन्थन एवं अवलोकन किया तथा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्राह्मी की उत्पत्ति के विषय में भारतीय या स्वदेशी उद्भव का सिद्धान्त ही सर्वथा समीचीन है। प्रस्तुत शोधलेख के माध्यम से ब्राह्मी के विषय में विदेशी एवं स्वदेशी उद्भव के सिद्धान्त का पर्याप्त आलोड़न, अन्वेषण एवं सूक्ष्म परीक्षण कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि ब्राह्मीविषयक स्वदेशी उद्भव के सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाले आचार्यों का मत ही सर्वमान्य एवं सर्वस्वीकार्य है।

शब्दकुञ्जी: *लिपि, ब्राह्मी, भाषा, मुहर, सील, शिल्प, शुल्वसूत्र, फा-वान-शू-लिन्, कइअलू, खरोष्ठी, सेमेटिक, फोइनीशियन/फोनिशियन।*

273-272 ई. पूर्व अथवा 269-268[1] ई. पूर्व में मौर्य सिंहासन को अलंकृत करनेवाले मौर्यवंश के महान् सम्राट देवानांप्रिय[2] प्रियदर्शी राजा अशोक ने अपने शासनादेशों, राजाज्ञाओं, धार्मिक व राजकीय घोषणाओं आदि को जनता से अवगत कराने के उद्देश्य से अभिलेखीय अभिव्यक्ति का आश्रय लिया, जिसे शिलाओं, स्तम्भों एवं गुफाओं आदि पर प्राकृत (पाली) भाषा एवं ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण कराकर भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक नवीन परिपाटी का प्रचलन आरम्भ किया। यद्यपि अशोक के कुछ अभिलेख खरोष्ठी आदि अन्य लिपियों में भी लिपिबद्ध दिखाई पड़ते हैं। अशोक के अनन्तर अभिलेखों को लिपिबद्ध किये जाने की विस्तृत एवं सुव्यवस्थित परम्परा दिखाई पड़ती है। हाँ, अन्तर यह रहा कि भाषा की दृष्टि से अब प्राकृत (पाली) का स्थान संस्कृत भाषा ने ग्रहण कर लिया, किन्तु लिपि की दृष्टि से ब्राह्मी की स्थिति बनी रही, यद्यपि देश, काल व स्थान की दृष्टि से उसमें संरचनात्मक परिवर्तन अवश्य दिखाई पड़ते हैं। सल्तनतकाल से पूर्व ब्राह्मी का रूपांतरण व विकास विविध रूपों में हो चुका था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सल्तनतकालीन साम्राज्य स्थापित होने के पूर्व ही भारतीय आचार्यों में प्राचीन ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण अभिलेखों के पठन-पाठन की परम्परा लुप्त हो चुकी थी। यही कारण है कि 1351[3] ई. में तुगलक राजसिंहासन पर आरूढ़ होनेवाले फीरोजशाह तुगलक ने जब 1356[4] ई. में पंजाब के अम्बाला जिले के टोपरा नामक स्थान एवं मेरठ से प्राप्त अशोककालीन स्तम्भलेखों को अत्यन्त परिश्रमपूर्वक तत्तद् स्थानों से मंगवाकर क्रमशः दिल्ली के फीरोजशाह कोटला एवं रिज नामक पहाड़ी पर स्थापित कर बहुविध विद्वानों की सहायता से उक्त स्तम्भों पर उत्कीर्ण लेखों को पढ़वाने अथवा रहस्य को जानने की कोशिश की तब किसी भी विद्वान् के द्वारा उस लेख को पढ़ने में असमर्थ जानकर लेखों के अभिप्राय को जानने की उनकी जिज्ञासा धरी की धरी रह गई।

---

1 अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, पृ. 17.
2 भारतीय पुरालेखों का अध्ययन, अशोक का अभिलेख, पृ. 90.
3 भारत का इतिहास (1000-1707), पृ. 158.
4 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 89.

©Indira Gandhi National Open University

कालान्तर में महान् मुगल बादशाह अकबर ने भी उन लेखों के आशय को जानने की जिज्ञासा प्रकट की किन्तु कोई भी विद्वान् उनकी जिज्ञासा का शमन करने में समर्थ नहीं हुए।

अंग्रेजों के आगमन के साथ ही औपनिवेशिक सत्ता के हितों को साधने एवं भारतीय ज्ञानपरम्परा एवं संस्कृति पर आघात करने के उद्देश्य से ही सही, अंग्रेजों में भारतीय ज्ञान के रहस्य को जानने, अन्वेषित करने तथा औपनिवेशिक हितों के अनुकूल भारतीय इतिहास को प्रस्तुत करने की नई परम्परा का आरंभ होता है। अन्वेषण-क्रम में ही ब्रिटिश विद्वानों को कुछ अभिलेख हाथ लगे, यथा - 1750 ई. में पैड्रे टीफैनथैलर को दिल्ली-मेरठ स्तम्भलेख, 1785 ई. में बाराबर और नागार्जुनी पर्वतीय गुफालेख, 1822 ई. में टॉड को गिरनार शिलालेख, 1837 ई. में किट्टो को धौली शिलालेख, 1840 ई. में कैप्टन बर्ट को भाबरु शिलालेख, 1850 ई. में सर वाल्टर इलियट को जौगड़ शिलालेख, 1872 में कारलायल को रामपुरवा स्तम्भलेख, 1882 ई. में भगवान् लाल इन्द्राजी को सोपारास्थित आठवें शिलालेख का एक खण्ड, 1891 ई. में राइस को मैसूरस्थित शिलालेख, 1895 ई. में फीहरर को निगालीसागर स्तम्भलेख एवं 1896 ई. में रुम्मिन्देई स्तम्भलेख, 1905 ई. में ओरटैल को सारनाथ स्तम्भलेख, 1915 ई. में बीडन का मास्की चट्टानी लेखादि।[5]

1772-74 ई. तक बंगाल का गवर्नर एवं 1774-85 ई. तक ब्रिटिश भारत के प्रथम गवर्नर जनरल रहे वॉरेन हेस्टिंग्ज[6] की प्रेरणा से 15 जनवरी 1784 को सर विलियम जोन्स[7] ने एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थाना कलकत्ता में की। मुख्य रूप से इस सोसायटी का उद्देश्य एशिया खण्ड के इतिहास, पुरालेख, प्राचीन शिलालेख, ताम्रपत्र, दानपत्र, सिक्के, इतिहास, भूगोल, भिन्न-भिन्न शास्त्र, रीति-रिवाज, शिल्प, विज्ञान, साहित्य, संस्कृति से संबंधित विषयों का अध्ययन करना, अन्वेषण करना, गवेषणा करना तथा शोधपरक प्रतिपादन करना रहा। साथ ही शिलाओं, स्तम्भों, गुफाओं, दानपत्र आदि में उत्कीर्ण अभिलेखों को छापना, उसको पढ़ना, उसका अनुवाद करना, उसे प्रकाशित करना आदि कार्य भी रहे। कहने का आशय यह है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्राचीन अभिलेखों को संग्रहित कर प्रयत्नपूर्वक पढ़ने की एक नवीन परम्परा का आरम्भ हुआ। 1781 में चार्ल्स विल्किन्स ने मुंगेर में प्राप्त बंगाल के राजा देवपाल का दानपत्र पढ़ा। 1785 ई. में चार्ल्स विल्किन्स ने बंगाल के राजा नारायणपालकालीन स्तम्भलेख, जो दीनाजपुर जिले के बादल नामक स्थान से प्राप्त हुआ था, उसे पढ़ा। 1785 ई. में पंडित राधाकांत शर्मा ने टोपरावाले दिल्लीस्थित अशोक के स्तम्भलेख पर उत्कीर्ण चौहान राजा आन्नल्लदेव (आना) के पुत्र वीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के तीन लेखों का पाठन किया। 1785-89 के बीच चार्ल्स विल्किन्स ने जे.एच. हेरिंगटन के द्वारा बोधगया के नागार्जुनी एवं बराबर की गुफाओं से प्राप्त मौखरी वंश के राजा अनन्तवर्मन के तीन लेखों को पढ़ा। 1818 से 1823 ई. तक राजपूताना एवं काठियावाड़ में कई प्राचीन लेखों की खोज करनेवाले जेम्स टॉड के गुरु यति ज्ञानचन्द्र ने 7वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी तक के उक्त लेखों को पढ़ा। 1834 ई. में कैप्टन ट्रॉयर ने अशोककालीन प्रयाग स्तम्भ पर उत्कीर्ण गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त के लेखों को आंशिक रूप में तथा डॉ. मिल ने उसे पूर्ण रूप में पढ़ा। मिल ने ही 1837 ई. में स्कन्दगुप्त का भिटारी स्तम्भलेख को पढ़ा। 1837-38 ई. में जेम्स प्रिन्सेप ने देहली, कहाऊँ और एरण के स्तम्भों तथा काँची और अमरावती के स्तूपों और गिरनार चट्टान पर उत्कीर्ण गुप्तलिपि को पढ़ा।[8] 1837 में प्रिंसेप ने देहली-टोपरा लेख को, 1831 ई. में उसने ही धौली और गिरनार लेखों को, 1840 में नौरिस ने शहबाजगढ़ी शिलालेख को पण्डित कमलाकान्त की सहायता से, किट्टो ने 1840 ई. में ही भाबरु शिलालेख को पढ़ा।[9] इस तरह शिलालेखों को पढ़ने की अनवरत प्रक्रिया आरंभ हो गयी। शिलालेखों को पढ़ने की प्रक्रिया के साथ ही पूर्व में उपलब्ध लेखों को ग्रीक एवं सिकन्दनकालीन माने जाने का भ्रम उक्त लेखों के वाचन के साथ ही समाप्त हो गया। साथ ही पूर्ववर्ती अभिलेखों की भाषा संस्कृत स्वीकार किये जाने का अनुमान भी अशोककालीन लेखों को पाये जाने एवं पढ़े जाने के साथ ही धूमिल हो

---

5 प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 292.

6 आधुनिक भारतीय इतिहास, पृ. 102.

7 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 89.

8 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 90-91.

9 प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 293.

©Indira Gandhi National Open University

गया और यह स्थापित हो गया कि प्राचीन अभिलेखों की लिपि निश्चित रूप से ब्राह्मी थी, किन्तु अशोककालीन अधिकांश लिपियों पर उत्कीर्ण भाषा तत्तद् स्थानों की प्रचलित देशी भाषा प्राकृत थी। प्रिन्सेप आदि विद्वानों के द्वारा ब्राह्मी लिपि को पढ़ लिये जाने के साथ ही पूर्ववर्ती अन्य लेखों को पढ़ना सुगम हो गया क्योंकि समस्त भारतीय लिपियों का मूलाधार ब्राह्मी लिपि ही थी। चार्ल्स विल्किन्स, पंडित राधाकान्त शर्मा, कर्नल जेम्स टॉड एवं उनके गुरु यति ज्ञान चन्द्र, डॉक्टर वी.जी. बॅविंगटन, वॉल्टर इलिअट, डॉ. मिल, डब्ल्यू.एच. वॉथन्, जेम्स प्रिन्सेप, मि. नौरिस, जनरल कनिंघम आदि अनेक विद्वानों ने ब्राह्मी और उससे उद्भावित लिपियों और उनकी वर्णमालाओं को पढ़ने का कार्य किया। 1877-79 में जनरल कनिंघम ने 'कार्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिरेकम्' नामक अभिलेखाधारित प्रथम पुस्तक प्रकाशित की। 1925 ई. में कार्पस् का नया संस्करण हल्टष् (Hultzsch) के द्वारा प्रकाशित कराया गया। पूर्व में 1801 ई. में उस समय तक प्राप्त शिलालेखों की नकलें 'एशियाटिक रिसर्चिज' में भी प्रकाशित हुई थी।[10] इस प्रकार लिपि के उद्वाचन के साथ ही प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अवबोधनार्थ अकाट्य सामग्री अर्थात् पुरातात्त्विक स्रोत के द्वारा उसकी सुस्थापना का मार्ग सुगम एवं सुलभ हो गया।

अब प्रश्न यह है कि यह लिपि क्या है? तथा लिपि एवं भाषा में क्या अन्तर है? लिपि कितने प्रकार के हैं? आदि। कोशग्रन्थों के अनुसार √लिप् धातु से इक् प्रत्यय या √लिप् धातु से इक् अथवा ङीप् लगकर लिपि या लिपी शब्द निष्पन्न होता है, जिसका सामान्य अर्थ है[11] - लीपना, पोतना, लिखना, लिखावट, अक्षरविन्यास, अक्षरसंस्थान, लिपी, लिबी, लिबि, अक्षररचना, लिखने की कला, लिखित अक्षर, वर्ण, वर्णमाला आदि। अमरकोशकार कहते हैं -

लिखिताक्षरविन्यासे लिपिर्लिबिरुभे स्त्रियौ।
स्यात्सन्देशहरो दूतो दूत्यं तद्भावकर्मणि।।

आंग्ल-पर्याय के रूप में लिपि के लिए writing in general, handwriting, a writing, a written paper, written characters, letters, alphabet, painting, drawing, smearing, alphabet, anointing, the art of writing etc. शब्दों का प्रयोग कोशकारों ने किया है।[12] लिखित वर्ण को लिपि कहा जाता है - **लिखितवर्णम् लिपिः।** वर्णों तथा चिह्नों के संयोजन की प्रणाली लिपि है। कोशकार जटाधर ने अक्षररचना को लिपि कहा है। शब्दरत्नावली में लिपिका शब्द प्रयुक्त हुआ है।

वस्तुतः लिपि किसी भाषा के ऐसे लघुतम अक्षरों का समूह है जो लिखने के लिए प्रयुक्त होता है। यह भाषा को लिखने की व्यवस्था है। भाषा को तल पर व्यवस्थित करने की विधि है, भाषा को दृश्यमान स्थायित्व प्रदान करनेवाले यादृच्छिक, परम्परागत वर्णप्रतीकों की व्यवस्था है। यह भाषा को मूर्त रूप प्रदान करती है तथा उसे स्थायित्व प्रदान करती है। जहाँ भाषा ध्वनियों की व्यवस्था है वहीं लिपि वर्णों की व्यवस्था है। भाव को व्यक्त करेनवाले चिह्न, संकेत, चित्रादि लिपि के आरंभिक रूप रहे होंगे। ऐसे भावपूर्ण चिह्न या संकेत, जिनसे मौखिक भाषा या वाचिक भाषा स्थिर एवं सुरक्षित होकर समय तथा स्थान की सीमाओं को पारकर चिरस्थायी बन जाती है। इस दृष्टि से भाषा की उत्पत्ति लिपि से पहले हुई। भाषा के लिए लिपि आवश्यक नहीं है, किन्तु लिपि के लिए भाषा आवश्यक है। भाषा सूक्ष्म है तो लिपि स्थूल है। भाषा की ध्वनियों में अस्थायित्व है तो लिपि में अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व है। भाषा श्रव्य है और उसका सम्बन्ध श्रवणेन्द्रिय से है, वहीं लिपि दृश्य एवं पाठ्य होने से नेत्रें से सम्बन्धित है। भाषा का रूप मौखिक है तो लिपि दृश्यमान है। लिपि में भौतिक साधनों - शिला, स्तम्भ, मुद्रा, ताम्रपत्र, भूर्जपत्र, कागज, कलम, कम्प्यूटर आदि का प्रयोग आवश्यक है। मौखिक रूप होने के कारण भाषा में स्थान, व्यक्ति एवं कालभेद से परिवर्तन सम्भव है जबकि लिखित एवं लिपिबद्ध रूप में होने से यहाँ परिवर्तन की सम्भावना अपेक्षाकृत कम होती है। भाषा ध्वनियों का समूह है जबकि लिपि में ध्वनियों के प्रतीकस्वरूप रेखाओं एवं चिह्नों का समावेश दिखायी

---

10 *वही*, पृ. 294.

11 वाचस्पत्यम्, भाग-6, पृ. 4828; शब्दकल्पद्रुम, भाग-4, पृ. 223; संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 878.

12 संस्कृत-आंग्लकोश, पृ. 481.

©Indira Gandhi National Open University

पड़ता है। भाषा सद्यःप्रभावकारी है जबकि लिपि का प्रभाव विलम्ब से प्रतीत होता है। भाषा का सम्बन्ध जीवन से है जबकि लिपि का सम्बन्ध सभ्यता एवं संस्कृति के विकास से है। फिर भी दोनों का मूल आधार ध्वनियाँ हैं, दोनों ही भाव और विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है यद्यपि दोनों से होनेवाली भावाभिव्यक्ति अपूर्ण दिखाई पड़ती है। दोनों की लभ्यता ज्ञानशिक्षण से सम्भव है। दोनों ही सांस्कृतिक उन्नति का प्रतीक एवं मानव विकास के लिए अपेक्षित है। भाषा एवं लिपि अभिन्न रूप से सह-सम्बद्ध हैं तथा प्रत्येक को अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए दूसरे की अपेक्षा होती है। भाषा की उत्पत्ति के समान लिपि की उत्पत्ति के इतिहास को बताना कठिन है क्योंकि आरंभ में जिन वस्तुओं पर ये लिपियाँ अंकित थीं वे काल-कवलित हो गयीं। इस प्रकार भाषा यदि अभिव्यक्ति का माध्यम है तो लिपि लिखित रूपाभिव्यक्ति का। भाषा के अस्तित्व के लिए उस भाषा की लिपि का अस्तित्व भी आवश्यक है। कहा भी गया है - **कण्ठं स्थिते वर्णघोषं लिखितरूपं लिपिकास्तथा।** लिपि ने भाषा के अस्तित्व को संरक्षित करने के साथ-साथ भाषा के भाव को भी सुरक्षित रखा है। भाषा की विविधता के साथ लिपि की विविधता जुड़ी रहती है। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में लिपि के वैविध्य की ओर संकेत करते हुए कहा गया है -

नानादेश समाचारा नानाभाषसमोदया।
नानाकर्मार्थसंयोगा नानालिङ्गैस्तु लक्षयेत्।
मध्यदेशाबहिर्येषां वाचा भवति चञ्चला।।
ते हि व्यक्तं नरा ज्ञेया म्लेच्छाभाषारता हि ते।[13]

लिपि मानव व्यवहार के साथ सम्पृक्त रही है तथा मानव व्यवहार का प्रतीक है। भाषा का प्रत्यक्षीकरण लिपि से ही सम्भव है - **लिपिनोऽक्षरदृश्यरूपाम्।**[14] भाषा की अन्तर्सम्बद्धता व्याकरण के साथ है तो लिपि लेखनी की उपज है।

ऋग्वेद के एक मंत्र से भावित होता है कि ब्रह्मा द्वारा रचित भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी, ब्रह्मी थी -

तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः। हरिरेति कविक्रदत्।।
अभि ब्रह्मीरनूषत यह्वीऋतस्य मातरः। मर्मृज्यन्ते दिवः शिशुम्।।[15]

त्रित आप्त्य ऋषि द्वारा गायत्री छंद में ग्रथित पवमान सोम देवता के इन मंत्रों में उल्लिखित ब्रह्मी वाच् अथवा ब्रह्मी-वाक् शब्द विचारणीय है। यद्यपि पाणिनि की दृष्टि में ब्रह्मी शब्द सही नहीं है, बल्कि इसके स्थान पर ब्राह्मी शब्द का प्रयोग उचित था। इस दृष्टि से ब्रह्मी का रूपान्तरण ब्राह्मी के रूप में हुआ होगा। भाषा के लिखित स्वरूप का दर्शन हमें ऋग्वैदिक मंत्रों में भी प्राप्त होता है। कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं -

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।[16]

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।।[17]

---

[13] मञ्जुश्रीमूलकल्प, सम्पादक - टी- गणपति शास्त्री, त्रिवेंद्रम, 1920 ई., पृ. 234.

[14] ललितविस्तर, सम्पादक - शान्तिभिक्षु शास्त्री, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1984 ई. लिपिशाला संदर्शनपरिवर्त 10, 301.

[15] ऋग्वेद, 9-33-4-5.

[16] ऋग्वेद, 10-71-4.

[17] ऋग्वेद, 10-71-5.

©Indira Gandhi National Open University

चिह्नों के आधार पर पशुओं को पहचानने के संकेत ऋग्वैदिक काल से ही प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं, हड़प्पा संस्कृति के उत्खननस्थल से प्राप्त मुहरें, सीलें, नामपट्ट आदि इस रहस्य को उद्घाटित करते हैं कि भले ही सिन्धु सभ्यता की लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी हो, किन्तु चित्रलिपि का संकेत तो अवश्य ही प्रकट करते हैं। साथ ही जब पाणिनि अपने अष्टाध्यायी में **'यवनाल्लिप्याम्'**[18] सूत्र के द्वारा नामतः यवन लिपि का उल्लेख करते हैं तो अवश्य ही यह उल्लेख इस बात को व्यक्त करता है कि भारत में स्थानीय स्तर पर अन्य लिपियाँ प्रचलित थीं। सिन्धु सभ्यता से पूर्व भी कन्दराओं और गुफाओं से प्राप्त प्रतीकचिह्नों एवं संकेतचिह्नों से यह द्योतित होता है कि किसी न किसी रूप में भारतीय लेखनकला से परिचित थे तथा सिन्धु सभ्यता से लेकर पाणिनिकाल तक अनवरत रूप से उसका प्रयोग होता रहा था।

प्राचीन सूत्र व स्मृतिसाहित्य में लेखनकला की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है, यथा - विष्णुधर्मसूत्र का कथन है -

वर्णैश्च तत्कृतैश्चिह्नैः पत्रेरेव च युक्तिभिः।
सन्दिग्ध साधयेल्लेख्यं तद्युक्तिप्रतिरूपकैः।।
यत्रर्णी धनिको वापि साक्षी वा लेखकोऽपि वा।
म्रियते तत्र तल्लेख्यं तत्स्वहस्तैः प्रसाधयेत्।।[19]

बृहस्पति का एक प्राचीन श्लोक आह्निकत्व में उद्धृत है, जिसमें कहा गया है -

षाण्मासिके तु समये भ्रान्तिः सञ्जायते यतः।
धात्राक्षराणि सृष्टानि पत्ररूढाण्यतः पुरा।।[20]

अर्थात् छह महीने में किसी घटना-प्रसंग के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाने के कारण ब्रह्मा ने अत्यन्त प्राचीनकाल में पत्र पर आरूढ़ हो सकने योग्य अक्षरों की रचना की।

कात्यायन ने भागपत्र, दानपत्र, क्रियापत्र, आधान या आधिपत्र, शिति या संवित् पत्र, दायपत्र, सीमापत्र, ऋणलेख, विशुद्धिपत्र, सन्धिपत्र, उपगत या अभिधापत्र के नाम से अभिलेखों का न्यायिक दृष्टि से उल्लेख किया गया है। अपरार्क ने लेख्य पर अंकित राजचिह्न की प्रामाणिकता को ऋणि, साक्षी और लेखक की मृत्यु के उपरान्त भी स्वीकार किया है -

समुद्रेऽपि यदा लेख्ये मृताः सर्वेऽपि ते स्थिताः।
लिखितं तत्प्रमाणं तु मृतेष्वपि हि तेषु च।।

नारद भी कहते हैं कि किसी तथ्य को सिद्ध करने के लिए हस्तचिह्नों एवं लिपिचिह्नों को आधार बनाया जाता था, जो लिपि से ही सम्भव है -

यत्र स्यात् संशयो लेख्ये भूताभूतकृते क्वचित्।
तत्स्वहस्तक्रियाचिह्न युक्तिप्राप्तिभिरुद्धरेत्।।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के लेख्यलक्षणवर्णन नामक अध्याय में राजसाक्षी में लिखित, गवाही की मौजूदगी में लिखित एवं अपने हाथ से लिखित तीन प्रकार के लेखों का वर्णन है -

---

18 अष्टाध्यायी, 4-1-49 पर वार्त्तिक-3.

19 विष्णुस्मृति, सम्पादक - एफ- मैक्समूलर, अनुवादक - जूलियस जॉली, पुनर्मुद्रण - भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1991 ई., 7-12-13.

20 आह्निकतत्त्व, कोलकाता, अक्षररचनाप्रसंग।

©Indira Gandhi National Open University

लिखितं तत्प्रमाणं तु मृतेष्वपि हि साक्षिषु।

लिखित प्रमाण के वैशिष्ट्य की चर्चा नारदस्मृति में भी प्राप्त होती है - **'साक्षिभ्यो लिखितं श्रेयं लिखितान्न तु साक्षिणः'**। वहाँ इस बात का भी निर्देश है -

छिन्न भिन्न हृतोन्मृष्टनष्टदुर्लिखितेषु च।
कर्त्तव्यमन्यल्लेख्यं स्यादेष लेख्यविधि स्मृतः।।[21]

शब्दकल्पद्रुम में वाराहीतन्त्र में उल्लिखित लिपि के पाँच प्रकारों की चर्चा है -

मुद्रालिपिः शिल्पलिपिर्लिपिर्लेखनिसम्भवाः।
गुण्डिकाघुणसम्भूता लिपयः पञ्चधा स्मृताः।।[22]

अर्थात् मुद्रलिपि, शिल्पलिपि, लेखनी की लिपि, गुण्डिका अर्थात् आटा या चूर्णलिपि और घुण से बनी हुई लिपि। इसी तरह वैदिक गणित, ज्योतिष, मुहूर्तादि की गणना, शुल्वसूत्र, वेद में उल्लिखित जुए के पासे पर अंकित चिह्न, पशुकर्णादि पर अंकित चिह्न, शुल्वसूत्र, वेदांगज्योतिष, छन्दशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, संख्या-गणन, यज्ञवेदिका का निर्माण-काल आदि में उल्लिखित चिह्न लेखन की प्राचीनता को ही प्रकट करता है। लिपि की चर्चा तन्त्र में भी प्राप्त होती है। भारतीय समाज में लिपि पठन-लेखन अक्षरारम्भसंस्कार नाम से प्रचलित रहा है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में चूडाकर्म के अनन्तर लेखन (वर्णमाला) और गणना (अंकमाला) सीखने के कार्य को आरंभ करने का निर्देश दिया गया है -

वृत्तचौलकर्मा लिपि संख्यानं चोपयुञ्जीत्।[23]

आठवीं-नवीं सदी में यह संस्कार **'शिशोर्लिपिग्रहो'** कर्म के रूप में प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ **'नूतनाक्षरलेखनप्रारम्भः कार्यः'** प्राप्त होता है।

लिपि के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए पाँचवीं शताब्दी के स्मृतिग्रंथ नारदस्मृति में कहा गया है कि यदि ब्रह्मा ने नेत्रतुल्य लेखनकला का आविष्कार नहीं किया होता तो विश्व अभी तक आज जैसी सुस्थिति में नहीं पहुँच पाती अर्थात् इस लोक की आज जैसी शुभ गति नहीं होती -

नाकारिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यच्छुभा गतिः।।[24]

अन्यत्र भी कहा गया है -

षाण्मासिके तु समये भ्रान्तिः संजायते यतः।
धात्राक्षराणि सृष्टानि पत्रारूढाण्यतः पुरा।।

चूँकि छह महीने के अनन्तर किसी घटना के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, इसलिए ब्रह्मा ने अतिप्राचीन काल में पत्रारूढ़ अक्षरों की सृष्टि की।

---

21 नारदस्मृति, 4-1-146.
22 शब्दकल्पद्रुम, भाग-4, पृ. 223.
23 अर्थशास्त्र, 1-5-2.
24 नारदस्मृति, 4-1-70.

©Indira Gandhi National Open University

रघुवंश महाकाव्य में भी उल्लेख है कि लिपि के यथावद् ग्रहण से मनुष्य उसी प्रकार वाङ्मय के विशाल कोश में प्रवेश करता है जिस प्रकार नदीमुख से समुद्र में घड़ियालादि प्रवेश करते हैं -

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाग्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्।[25]

उपर्युक्त विवेचन लिपि के उद्भव की प्राचीनता को भी व्यक्त करता है। विश्व के भिन्न-भिन्न देशों में जिस प्रकार अपनी-अपनी भाषा को किसी देवताविशेष से जोड़कर लिपि की उत्पत्ति के विषय में देवोत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, यथा - मिस्री लोगों ने अपनी लिपि हायरोग्लिफिस की उत्पत्ति थाथ नामक देवता से, बेबिलोनियावासियों ने अपनी कीलाक्षर लिपि की उत्पत्ति नेबू से, चीनियों ने चीनी लिपि की उत्पत्ति वेनचांग से, यूनानियों ने ग्रीस लिपि की उत्पत्ति हर्मेस से, इजरायलियों ने हिब्रू लिपि की उत्पत्ति जेहोवा से, रोमनवासियों ने अपनी रोमन लिपि की उत्पत्ति मर्करी से तथा अरबवासियों ने अपनी अरबी लिपि की उत्पत्ति अल्लाह या आदम से बतायी है ठीक उसी तरह भारतवासियों ने ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी है।[26] आचार्यों ने लिपि-विकास के मुख्य तीन चरणों के साथ-साथ गौण रूप से माने जानेवाले तीन अन्य चरणों का भी निरूपण किया है, जिसका उल्लेख इस प्रकार है - प्रमुख तीन चरण हैं -

1. चित्रलिपि - फ्रांस, स्पेन, यूनान, इटली, मिस्रादि से प्राप्त।
2. भावलिपि - उत्तरी अमेरिका, चीन, अफ्रीकादि। और
3. ध्वनिलिपि - भारत, रोम, अरबादि।

उपर्युक्त तीन चरणों में से ध्वनिलिपि के भी दो भेद किये जाते हैं – 1. अक्षरात्मक एवं 2. वर्णात्मक।

इसी तरह गौण कहे जानेवाले तीन चरण हैं -

1. सूत्रलिपि - पेरू से प्राप्त 'क्वीपू'।
2. प्रतीकात्मक लिपि - आदिम जातियों में प्राप्त।
3. भाव-ध्वनिमूलक लिपि - मिस्री, हित्ती, मेसोपोटामिया से प्राप्त। कुछ विद्वानों ने सिन्धु-घाटी लिपि को भी इसके अन्तर्गत रखा है।

साथ ही आचार्यों ने वर्णमाला के आधार पर भी विश्व की प्राचीन लिपियों का वर्गीकरण किया है -

1. वर्णमालारहित लिपियाँ:-
   - (i) क्यूनीफॉर्म (कीलाक्षर)
   - (ii) हीरोग्लाइफिक (गूढ़ाक्षर)
   - (iii) क्रीटी लिपि
   - (iv) सिन्धु घाटी लिपि
   - (v) चीनी लिपि
2. वर्णमालायुक्त लिपियाँ:-

[25] रघुवंश, 3/28.
[26] भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र, पृ. 482.

©Indira Gandhi National Open University

(i) सामी, आर्मेइक, फोनीशियान, हिब्रू लिपियाँ

(ii) अरबी

(iii) ग्रीक (यूनानी)

(iv) लैटिन (रोमन)

(v) खरोष्ठी

(vi) ब्राह्मी

जहाँ तक लिपियों की संख्या की बात है तो आरंभ में दो लिपियाँ प्रचलित थीं, जिनमें से एक नागरी अर्थात् बाएँ से दाएँ अर्थात् सार्वदैशिक तथा दूसरी दाएँ से बाएँ अर्थात् एकदैशिक। उक्त दोनों लिपियों का प्राचीनतम नाम अज्ञात रहा है। जैनग्रंथ पन्नवणासूत्र तथा समवायांगसूत्र में 18 लिपियों का नाम मिलता है। बौद्धग्रंथ ललितविस्तर में 64-65 लिपियों का उल्लेख मिलता है। समवायांगसूत्र में अट्ठारह लिपियों में पहला नाम बंभी (ब्राह्मी) का है। भगवतीसूत्र में बंभी (ब्राह्मी) लिपि को नमस्कार करके सूत्र को प्रारंभ किया गया है, यथा - **'नमो बंभीए लिवए'।** ललितविस्तर में भी पहला नाम ब्राह्मी का ही मिलता है। 668 ई. में रचित बौद्ध विश्वकोष 'फा युअन् चु लिन्' में ललितविस्तर में उल्लिखित 64 लिपियों की चर्चा है जिनमें पहली लिपि ब्राह्मी ही है। इस चीनी विश्वकोष फा-वान-शू-लिन/फा युअन् चु लिन् में भिन्न-भिन्न लिपियों का वर्णन है, जिनमें तीन लिपियों का निरूपण प्रमुख है, वे हैं - (1) ब्राह्मी (2) कइअलू (किअ-लु) तथा (3) तनसकी या त्सं। इनमें से दैवी शक्तिवाले आचार्यों में से एक ब्रह्मा ने ब्राह्मी बनायी जिसे बाईं से दाहिनी ओर पढ़ी जाती है। किअ-लु खरोष्ठ का संक्षिप्त रूप है। इसकी लिपि दाहिनी से बायीं ओर पढ़ी जाती है। चीनी भाषा में खरोष्ठ का अर्थ गधे का होठ होता है।[27] त्सं चीनी लिपि है जिसे ऊपर से नीचे की ओर पढ़ी जाती है।[28] ब्रह्मा और खरोष्ठ भारतवर्ष में हुए जिन्होंने अपनी लिपियाँ देवलोक से प्राप्त किया। त्सं-की चीन में हुए। त्सं-की ने अपनी लिपि पक्षी आदि के पैरों के चिह्न पर बनाई।[29] ब्राह्मी इस देश की स्वतंत्र एवं सार्वदेशिक लिपि थी। जैनों एवं बौद्धों ने भी अपने ग्रंथों का प्रणयन इसी लिपि में किया। फलतः जैन-बौद्ध ग्रंथों एवं उक्त विश्वकोष में उल्लिखित लिपियों की नामावली में इसको प्रथम स्थान दिया गया है। मध्यकालीन फारसी इतिहासकार (973-1048 ई-) अबु रेहान मुहम्मद बिन अहमद अलबेरुनी द्वारा अरबी भाषा में रचित किताब - **उल-हिन्द** में उद्धृत है कि ब्राह्मी लिपि ब्रह्मा द्वारा आविष्कृत लिपि थी, जिसे बाएँ से दाएँ लिखी जाती थी। जैन ग्रंथ आदिपुराण में इस बात की चर्चा है कि चौबीस (24) तीर्थंकरों में से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपनी पुत्री को शिक्षित करने के उद्देश्य से जिस लिपि का आविष्कार किया था कालान्तर में उस लिपि का नाम उनकी पुत्री के नाम पर ब्राह्मी पड़ा।

स्पष्ट है कि भारतीय लेखनकला की चर्चा होते ही सर्वप्रथम ब्राह्मी लिपि प्रकाश में आती है। अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि ब्राह्मी लिपि के उद्भव का इतिहास क्या रहा है? अधिकांश प्राच्य और प्रतीच्य परम्परा स्वीकार करती रही है कि ब्राह्मी लिपि का उद्गमस्थल भारत रहा है। परन्तु कुछ ऐसे भी विदेशी आचार्य हैं जो ब्राह्मी की उत्पत्ति विदेशी स्रोत से मानते हैं। समग्र रूप में देखा जाए तो विद्वानों का वर्ग ब्राह्मी की उत्पत्ति को जानने के लिए जहाँ परम्परागत स्रोत का आश्रय लेते हैं, वहीं ब्राह्मी के उद्भव के विषय में आचार्य विदेशी एवं भारतीय उद्भव से संबंधित सिद्धान्तों पर भी विचार करते हैं। आचार्यों के विचारों को एक तालिका के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है –

---

27 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 59.

28 *वही*

29 *वही*

©Indira Gandhi National Open University

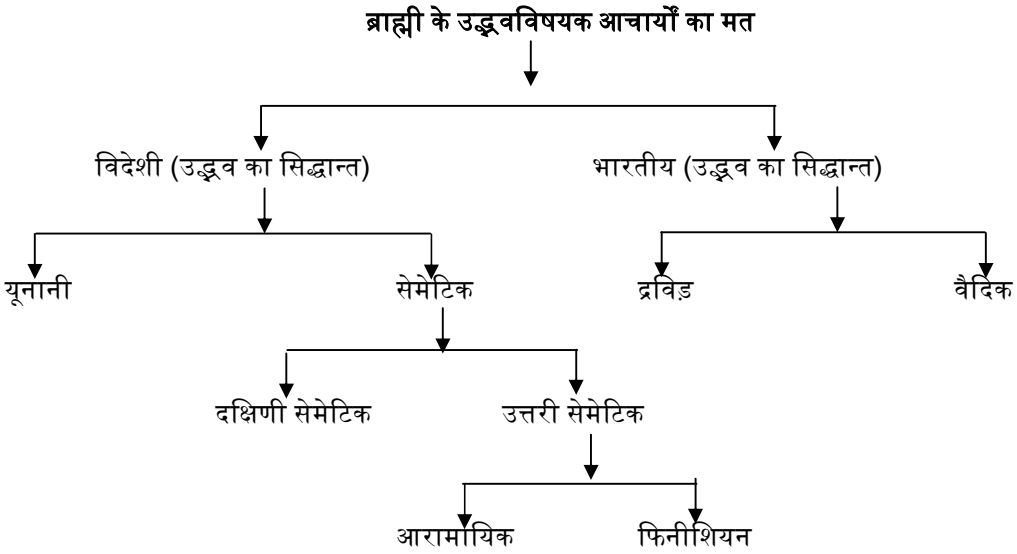

परम्परागत स्रोत पर विचार करते हुए सर्वप्रथम ब्राह्मी शब्द की व्युत्पत्ति एवं उसके अर्थ पर विचार करना स्वाभाविक है। ब्राह्मी शब्द **'ब्रह्मण इयम्'** इस अर्थ में ब्रह्मन् शब्द से अण् प्रत्यय, टि लोप तथा स्त्रीत्व की विवक्षा में **ङीष्/ङीप्** प्रत्यय लगकर ब्राह्मी शब्द निष्पन्न होता है। कोशग्रंथों में इसका अर्थ दुर्गा, ब्रह्म की मूर्त्तिमती शक्ति, वाणी की देवी सरस्वती, सुरश्रेष्ठा, स्वायम्भुवी, मेध्या, भारती, सूर्यमूर्त्ति, दिव्यतेज, वाणी, कहानी, कथा, भाषा, गिर्, वाच् आदि प्राप्त होता है।[30] अमरकोषकार कहते भी हैं -

ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती।
व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः।।

आंग्लशब्दकोष में भी ब्राह्मी शब्द का अर्थ Relating to Brahman or the creator or to the supreme spirit, Belonging to Brahmans, Relating to sacred knowledge or study, prescribed by the Vedas, Vedic. Personified female energy of Brahman, Divine mothers of created beings, speech of the of goddess of speech, wife of Brahaman, a religious practice, pious usage आदि प्रयुक्त हुआ है।[31] स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रसंग में ब्राह्मी को ब्रह्मा से सम्बद्ध कर देखा जा सकता है, साथ ही भाषा, वाणी आदि के साथ इसकी सहयुज्यता स्वीकार की जा सकती है। पारम्परिक स्रोत से उपलब्ध सामग्री भी इसी तथ्य को उद्घाटित करती हुई इस लिपि की प्राचीनता को भी द्योतित करती है। भारतीय परम्परा के अनुकूल आचार्यों ने ब्राह्मी को सृजन के देवता ब्रह्मा के साथ संयोजितकर ब्रह्मा को इस लिपि का उद्भावक कहा है जिन्होंने ब्राह्मण एवं वेदों की रक्षा के लिए इस लिपि की उद्भावना की थी। इसे देवलिपि कहा जाता था जिसे बड़े अनुग्रह के बाद प्रयोग व प्रसारार्थ ब्रह्मा ने ब्राह्मणों को प्रदान किया था। प्राचीन भारत में यह लिपि दो दृष्टियों से विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण मानी जाती थीं - (क) वेदों का संरक्षण के लिए और (ख) प्राचीन भारतीय विकसित समुन्नत व्यापार का लेखाजोखा रखने के लिए।

ऋग्वेद में उल्लिखित ब्रह्मी, जो पाणिनीयसूत्र की दृष्टि से ब्राह्मी है - से भी स्पष्ट है कि ब्राह्मी का उद्गमस्थल भारत ही रहा है। वैदिकयुग से लेकर पाणिनिकालीन इतिहास तक के अवलोकन से स्पष्ट है कि इस अवधि में भारत में लिपि की सुव्यवस्थित एवं विकसित परंपरा पूर्णतः स्थापित हो चुकी थी। विश्व के सर्वप्रथम भाषावैज्ञानिक आचार्य पाणिनि तक आते-आते स्थानीय लिपियों के साथ यवनादि बाह्य लिपियों का भी प्रचलन होने लगा था। मौर्यकाल में बाह्य लिपियों के अंकन के भी पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। जैन परम्परा से

[30] शब्दकल्पद्रुम्, भाग-3, पृ. 460-461; संस्कृत-हिन्दीकोश, पृ. 724-725.
[31] संस्कृत-आंग्लकोश, पृ. 396.

©Indira Gandhi National Open University

भी ज्ञात होता है कि जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ या ऋषभनाथ ने अपनी पुत्री बम्पी को पढ़ाने के लिए जिस लिपि का आविष्कार किया था, वह लिपि उनकी पुत्री के नाम पर ही ब्राह्मी अभिधान से विश्रुत हुई। भगवतीसूत्र के आरम्भ में ब्राह्मी लिपि का स्मरण इसी परम्परा को द्योतित करता है - **णमो बम्भिए लिविए**[32] **(नमो बम्पिए लिखिए)।** चीनी विश्वकोष फा-वान-शू-लिन में वैश्विक स्तर पर अतीतकालीन तीन लिपियों का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है, वे हैं - ब्राह्मी, कइअलू और तनसकी। यहाँ ब्राह्मी की सर्वप्रथम चर्चा करते हुए कहा गया है कि यह एक पूर्ण स्वतंत्र लिपि है, जिसका आविष्कार फान अर्थात् ब्रह्मा ने किया था तथा यह लिपि बाएँ से दाएँ लिखी जाती थी। इस लिपि का उद्भवस्थल भारत ही रहा था। ब्रह्मा से ब्राह्मी की उत्पत्ति का संकेत 580 ई. की मानी जानेवाली ब्रह्मा और सरस्वती की एक स्थानक युगलमूर्त्ति से होती है जिसकी प्राप्ति पूर्व बदामी गुफाओं के क्षेत्र में उत्खननस्वरूप हुई है। इस युगलमूर्त्ति में सरस्वती के एक हाथ में एक मुड़ी हुई पुस्तक है तथा ब्रह्मा के हाथ में ताड़पत्र का एक गुच्छा है। दसवीं सदी में भारत आए अरबी यात्री अलबिरूनी ने अपने समय में प्रचलित एक उद्धरण का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पराशर से पहले भारतवासी लेखनकला को भूल चुके थे। दैवयोग से पराशर के पुत्र वेदव्यास ने कलियुग के आरंभ में हिन्दू-ग्रंथों के संचयन एवं लेखन के लिए लेखनकला का पुनरान्वेषण किया और तब से क्रमिक लेखनकला का प्रचलन आरंभ हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि अलबेरूनी के इस चिन्तन का आधार संभवतः विष्णुपुराण का वह अंश रहा हो जहाँ इस बात की चर्चा है कि बहुत समय तक इस आर्षपुराण का ज्ञान लुप्त हो गया था जिसे ब्रह्मा ने ऋभुओं के प्रति प्रवर्तित किया था एवं नागों के द्वारा सुना-सुनाया जाता था। पुलस्त्य के वरदान से पराशर को वह स्मरण हो गया तथा उन्होंने ज्यों का त्यों मुनिसत्तम को सुनाया। अलबेरूनी के उक्त विमर्श के आधार पर डॉ. शिवस्वरूप सहाय का कहना है कि यह विमर्श सिन्धु घाटी और वैदिक साहित्य के बीच की अज्ञात कड़ी की ओर संकेत करता है[33] यद्यपि अन्य स्रोत में इस प्रकार की चर्चा के अनुपलब्ध होने से यह विमर्श आज भी गवेषण का विषय है। स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य, बौद्धसाहित्य, जैन साहित्य, भारतीय, चीनी, अरबी, यूनानी, लंकादि से प्राप्त पारम्परिक एवं आनुश्रौतिक प्रमाण, सिन्धुघाटी से प्राप्त पुरातात्त्विक स्रोत आदि के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि ब्राह्मी लिपि के प्रचलन का इतिहास भारतीय सन्दर्भ में आद्य-ऐतिहासिक काल से ही रहा होगा एवं इसका उद्गमस्थल भी भारत ही रहा होगा। फिर भी पारम्परिक स्रोत के अतिरिक्त ब्राह्मी लिपि के उद्भव के विषय में विदेशी एवं स्वदेशी उद्भव के सिद्धान्तों पर विचार करना स्वाभाविक एवं समीचीन होगा जिससे तार्किक व यथार्थ रूप में सत्य की स्थापना संभव हो सके।

आधुनिक प्राच्य एवं प्रतीच्य विद्वानों ने ब्राह्मी के उद्भव के विषय में जिन मतों की चर्चा की है उनके आलोड़न से दो बातें मुख्य रूप से निकलकर सामने आती हैं – 1. ब्राह्मी लिपि का उद्भव विदेशों में हुआ अर्थात् ब्राह्मी लिपि के विषय में विदेशी उद्भव का सिद्धान्त। विदेशी उत्पत्ति के विषय में आचार्य एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वान् ब्राह्मी के सन्दर्भ में यूनानी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं तो अनेक विद्वान् ऐसे हैं जो सेमेटिक मूल से भारतीय ब्राह्मी की उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं। सेमेटिक मध्यपूर्व में उत्पन्न सामी भाषाभाषी लोग हैं। सामी भाषा में इब्रानी भाषा, अरबी भाषा, अक्कादी भाषा, आरामाईक भाषा, गिइज भाषा, माल्टीज, आधुनिक हिब्रू, फ़ोनीशियाई भाषा, अम्हारिक भाषा, टिग्रिन्या, टाइग्रे आदि शामिल हैं। सेमेटिक भाषा सामी-हामी भाषा परिवार की एक उपशाखा है। इस भाषा परिवार की भाषाएँ मध्यपूर्व, उत्तरी अफ्रीका और अफ्रीका के सींग के क्षेत्रों में बोली जाती है। सन् 3000 ई. पूर्व में सुमेर सभ्यता द्वारा विकसित अंकन लिपि या कीलाकार लेखन प्रणाली (क्यूनीफ़ार्म) का प्रयोग एब्लाई और अक्कादी भाषाओं के लिए आरम्भ हो गया था, जो सेमेटिक भाषाएँ थीं। सेमेटिक भाषाएँ अब इब्रानी, सीरियाई, अरबी और गेएज लिपि में लिखी जाती हैं। सेमेटिक भाषाओं में अक्सर स्वरों का प्रयोग नहीं किया जाता है क्योंकि अधिकतर सेमेटिक भाषाओं में अर्थ व्यंजनों से ही आता है। आधुनिक काल में सेमेटिक लोगों का मुख्य समुदाय अरबी और यहूदी लोग हैं। अरब, इथियोपिया के हब्शी, मिज़राही यहूदी, असीरियाई एवं माल्टा द्वीप के लोग सेमेटिक भाषा का प्रयोग करते हैं। (The semetic languages are a family of related langauges that

---

[32] भारतीय प्राचीन ग्रंथमाला, पृ. 57. भारतीय पुरालेखों का अध्ययन, पृ. 14.

[33] भारतीय पुरालेखों का अध्ययन, पृ. 1.

©Indira Gandhi National Open University

includes Arabic, Aramaic, Hebrew and Ugaritic). सेमेटिक भाषाएँ एफ्रो-एशियाटिक भाषा संघ की एक शाखा बनाती है। इस समूह के सदस्य संपूर्ण उत्तरी अफ्रीका और दक्षिण-पश्चिम एशिया में फैले हुए हैं और उन्होंने 4000 से भी अधिक वर्षों से मध्य-पूर्व के भाषायी और सांस्कृतिक परिदृश्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सेमेटिक लिपि से भारतीय ब्राह्मी की उत्पत्ति माननेवाले आचार्यों में भी वैचारिक समानता का अभाव है। सेमेटिक वर्णों की विविध शाखाओं में से किस शाखा ने भारतीय ब्राह्मी को प्रभावित किया है, इस बात को लेकर उनके वैचारिक मतभेद को सामान्यतः तीन भागों में विभाजित कर देखा जा सकता है -

1. क्या दक्षिणी सेमेटिक मूल के वर्णों ने भारतीय ब्राह्मी को प्रभावित किया?

2. क्या उत्तरी सेमेटिक मूल के वर्णों ने भारतीय ब्राह्मी को प्रभावित किया?

3. क्या फोनिशियन मूल के वर्णों ने भारतीय ब्राह्मी का पोषण किया? फ़ोनीशिया मध्यपूर्व के उर्वर अर्धचन्द्र के पश्चिमी भाग में भूमध्यसागरीय तट पर स्थित एक प्राचीन सभ्यता थी जो 1550 से 300 ई. पूर्व के काल में भूमध्यसागर के सुदूरवर्ती क्षेत्रों में फैल गयी थी। प्राचीन यूनानी एवं रोमन लोग इन्हें जामुनी-रंग के व्यापारी कहा करते थे। माना जाता है कि इन लोगों ने जिन अक्षरमाला का प्रयोग किया उस पर विश्व की प्रमुख अक्षरमालाएँ आधृत थीं। देवनागरीसहित भारत की समस्त वर्णमालाएँ इसकी संतानें हैं - ऐसा माना जाता है। फोनीशियाई वर्णमाला का विकास लगभग 1050 ई. पूर्व में हुआ तथा प्राचीन यूनानी सभ्यता के उदय के साथ-साथ इसका अंत हो गया। फोनीशियाई भाषा प्राचीन सेमेटिक भाषा का ही अंग है जो अब विलुप्त हो चुकी है। इब्रानी भाषा के साथ इसका निकटतम संबंध रहा है। फोनीशिया भूमध्यसागर की पूर्वी तट के साथ प्राचीन क्षेत्र है जो आधुनिक सीरिया एवं इजरायल के आसपास के क्षेत्रों के साथ-साथ आधुनिक लेबनान के साथ मेल खाता है।

भारतीय ब्राह्मीविषयक विदेशी उत्पत्ति के सिद्धान्त के अतिरिक्त स्वदेशी उत्पत्ति के सिद्धान्त की चर्चा भी आवश्यक है। यह ठीक है कि स्वदेशी उद्भव के सर्वमान्य सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी यहाँ विद्वानों के विचारों में मतभेद दिखाई पड़ता है। यहाँ वैचारिक चिन्तन की भिन्नता के आधार पर स्वदेशी या भारतीय उद्भव के सिद्धान्तों का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जाता है -

1. क्या ब्राह्मी लिपि के उद्भव का श्रेय द्रविड़ लोगों को दिया जाए? तथा

2. क्या ब्राह्मी की उत्पत्ति का श्रेय भारतीय आर्यों या वैदिकमूल के आर्यों को दिया जाए?

पूर्वोक्त विदेशी एवं स्वदेशी अवधारणाओं के आलोक में ब्राह्मी लिपि के उद्भव के विषय में विचारकर एक निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है। अतः दोनों दृष्टियों का अन्वेषणपूर्वक सूक्ष्म अवलोकन आवश्यक है।

(क) विदेशी उद्भव का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सर्वप्रथम ब्राह्मीलिपि के उत्पत्तिविषयक यूनानी उद्भव के सिद्धान्त पर विचार करते हैं।

1. यूनानी उद्भव का सिद्धान्त

इस मत के प्रतिपादक आचार्य डॉ. ऑफ्रेड् मूलर, जेम्स प्रिंसेप, रावेल डी. रोशे, स्माइल सेनार्ट, गोब्लेत डि.-अल्वील्ल, जोजेफ हालवी, विल्सनादि हैं।[34] उक्त आचार्यों का मानना है कि ब्राह्मी लिपि का उद्भव यूनानी लिपि से हुआ। मूलर का कहना है कि सिकंदर के भारतीय आगमन के साथ ही यूनानी लोगों का भी भारत में

[34] भारतीय पुरालिपि, पृ. 37.

©Indira Gandhi National Open University

आगमन हुआ। यूनानी लोगों के आगमन के साथ ही यूनानी लिपि से भी भारतीय परिचित हुए और उनसे अक्षर सीखे।[35] प्रिन्सेप और सेनार्ट का भी मानना है कि यूनानी लिपि के सम्पर्क से ही ब्राह्मी लिपि का निर्माण हुआ।[36] विलसन् ने यूनानी अथवा फिनिशियन लिपि से ब्राह्मी का उद्भव माना।[37] हलवे का कहना है कि ब्राह्मी एक मिश्रित लिपि है जिसके आठ व्यंजन तो ज्यों के त्यों ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी के अरमइक अक्षरों से, छह व्यञ्जन, दो प्राथमिक स्वर, सभी मध्यवर्ती स्वर और अनुस्वार आरिअनों-पाली (खरोष्ठी) से और पाँच व्यंजन तथा तीन प्राथमिक स्वर प्रत्यक्ष या गौणरूप से यूनानी लिपि से लिये गये हैं और यह मिश्रण 325 ई. पूर्व के लगभग सिकन्दर के इस देश में आने के बाद हुआ माना जाता है।[38] स्पष्ट है कि सिकन्दर के साथ आनेवाले यूनानी लोगों के सम्पर्क के परिणामस्वरूप भारत में लेखनकला व ब्राह्मी लिपि का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। यह भी मानना है कि यूनानी लिपि फाइनीशियनों ने व्यापार के माध्यम से भारत लाया और इससे ही भारत में ब्राह्मी लिपि का प्रचलन आरम्भ हुआ।

यूनानी लिपि से भारतीय ब्राह्मी की उत्पत्तिविषयक दोनों ही विचार पूर्णतः भ्रामक एवं अप्रासंगिक प्रतीत होते हैं। यह ठीक है कि भारत के लोगों का यूनानी लोगों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध सिकन्दर के भारत आक्रमण के समय ही हुआ था किन्तु इस सम्पर्क से बहुत पहले ही भारत में लेखनकला का पूर्ण विकास हो चुका था। बूलर महोदय का भी कहना है कि भारत के लोग आठवीं एवं नवीं शताब्दी ई. पूर्व में ही लेखनकला से परिचित थे। उनका कहना है कि मौर्यकाल से अनेक शताब्दी पूर्व ही भारत में ब्राह्मी का प्रयोग होता था तथा प्राचीनतम उपलब्ध भारतीय अभिलेखों के समय तक इसका एक लम्बा इतिहास रहा है। दूसरा मत की फोइनीशियन व्यापारियों के माध्यम से यूनानी लिपि भारत में आई और उससे भारतीय लिपि की उत्पत्ति हुई - यह मत भी मान्य नहीं है। कारण यह है कि यूनानी लिपि की उत्पत्ति से बहुत पहले ही फोइनीशियन लिपि प्रकाश में आ चुकी थी। माना जाता है कि जब व्यापार के क्रम में यूनानी व्यापारी फोइनीशियन व्यापारी के साथ सम्पर्क में आये तब सम्भव है कि यूनानी व्यापारियों ने फोइनीशियन लिपि से प्रभावित होकर लेखन कार्य आरम्भ किया हो। भूमध्यसागर के तट पर अपनी बस्तियाँ बसाकर निवास करनेवाले फोइनीशिया के लोग भारतीय मूल के ही माने जाते हैं, जिन्हें ऋग्वेद में पणी कहा जाता था और जो व्यापार के क्रम में वहाँ पहुँचे थे। अतः स्पष्ट है कि फोइनीशियन लिपि भारतीय मूल की लिपि थी और इस लिपि ने यूनानी लेखन कला के इतिहास को प्रभावित किया था। इस दृष्टि से भारतीय लिपि ने ही यूनानी लिपि के उद्भव को सम्भव बनाया, न कि यूनानी लिपि ने भारतीय लिपि की उद्भावना में अपनी भूमिका अदा की। इसके साथ ही विद्वानों का मानना है कि यूनानी और ब्राह्मी लिपि के अक्षरों की संरचना में कोई समानता दिखाई नहीं पड़ती है। डीग्लेव का मानना है कि भारतीय लिपि के आकार और ध्वनियों को यूनानी लिपि से समीकृत नहीं किया जा सकता है।[39] यह भी स्पष्ट है कि पाणिनि ने अपने ग्रंथ में जिन वैयाकरणों का उल्लेख किया है उस समय तक भारतीय वर्णमाला अत्यंत सुव्यवस्थित हो चुकी थी जबकि दूसरी ओर यूनानी लिपि के इतिहास में उस समय तक अक्षरों की पदात्मकता से छूटने का काल था। किसी भी लिपिशास्त्रीय एवं साहित्यिक प्रमाणों से अबतक यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि यूनानी और भारतीय लिपि के अक्षर में किसी तरह की समानता थी। एक और बात यह है कि यदि यूनानी लिपि से भारतीय लिपि की उत्पत्ति हुई होती तो अशोक के अभिलेखों में दोनों का पृथक्-पृथक् प्रयोग नहीं किया जाता। स्पष्ट है कि अशोक के समय में भारतीय एवं यूनानी लिपि का स्वतंत्र अस्तित्व था तथा दोनों लिपियाँ साथ-साथ प्रचलित थीं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय लिपि नहीं, बल्कि यूनानी लिपि ही फोइनीशियन लिपि के रूप में भारतीय लिपि का ऋणी रहा है। अतः यूनानी लिपि से भारतीय लिपि की उत्पत्ति का सिद्धान्त कतई स्वीकार्य नहीं हो सकता है।

---

35 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 59-60.

36 *वही*, पृ. 60.

37 *वही*

38 *वही*

39 भारतीय पुरालेखों का अध्ययन, पृ. 15.

©Indira Gandhi National Open University

2. सेमेटिक उद्भव का सिद्धान्त

आचार्यों का एक वर्ग ऐसा है जो सेमेटिक मूल की लिपि से भारतीय लिपि की उत्पत्ति का निरूपण करते हैं। इस मत के प्रतिपादक आचार्यों में सर विलियम जोन्स, कॉप्प, लेप्सिअस्, बेवर, बेन्फी, पॉट, वेस्टरगार्ड, मैक्समूलर, फ्रेड्रिख मूलर, साइस, ह्विटनी, कस्ट, स्टिवन्सन्, पॉल गोल्डस्मिथ्, ई. मूलर, बर्नेल, लेनोर्मंट, डीके, आइज़क् टेलर, एडवर्ड क्लॉड, वूलर, डॉ. राइस डेविड्ज, डॉ. बार्नेट आदि हैं। इस प्रकार सेमेटिक मूल की लिपि से ब्राह्मी का उद्भव मानने वाले आचार्यों की एक बड़ी संख्या रही है। चूँकि सेमेटिक मूल की भाषाएँ कई शाखाओं में विभक्त हैं अतः इन विद्वानों के मध्य मतभेद इस बात को लेकर है कि सेमेटिक मूल की किस शाखा ने ब्राह्मी लिपि की उद्भावना को प्रभावित किया। विद्वानों ने ब्राह्मी को प्रभावित करनेवाले सेमेटिक मूल के वर्णों को विशेषतः तीन वर्गों में विभाजित कर विवेचन किया है, वे हैं - दक्षिणी सेमेटिक, उत्तरी सेमेटिक एवं फोइनिशियन। इन तीनों का क्रमशः निरूपण इस प्रकार है -

(i) दक्षिणी सेमेटिक - दक्षिणी सेमेटिक मूल के वर्णों से ब्राह्मी लिपि के प्रभावित होने सम्बन्धी मत का निरूपण मुख्य रूप से टेलर, डीके और केनन ने किया है।[40] सामान्यतः फिनिशियन लिपि से निकली हुई लिपियों में से हिमिअरेटिक (सेबिअन्), इथिओपिक्, कूफी और अरबी आदि दक्षिणी सेमेटिक लिपियाँ हैं जबकि अरमइक्, सीरिअक् और चाल्डिअन् उत्तरी सेमेटिक लिपियाँ हैं। डीके का मानना है कि ब्राह्मी लिपि असीरिया की क्युनिफार्म लिपि से, किसी प्राचीन दक्षिणी सेमेटिक लिपि के द्वारा, जिससे हिमिअरेटिक् लिपि निकली है, बनी है।[41] यूरोपियन विद्वानों के अनुसार क्युनिफॉर्म उस लिपि को कहते हैं जिसके अक्षर तीर के फल (arrowheaded) की आकृति के कई चिह्नों को मिलाने से बनते हैं। इसे अंकन लिपि, कीलाक्षर लिपि एवं प्रेसिपोलिटेन भी कहा जाता है। इस अतिप्राचीन एवं विचित्र लिपि के लेख असीरिया, बेबोलीन तथा ईरान आदि में मिलते हैं। ईरान के प्रसिद्ध शासक दारा प्रथम (ई. पूर्व 521-485) ने अपना वृत्तान्त इसी लिपि में बेहिस्तान नामक स्थान की चट्टान पर खुदवाया था।[42]

आइजक टेलर का कहना है कि ब्राह्मी लिपि किसी अज्ञात दक्षिणी सेमेटिक लिपि से निकली होगी। वे आगे लिखते हैं कि यद्यपि यह ज्ञात नहीं हो पाया है कि वह किस लिपि से निकली है, फिर भी अरब का एक प्रदेश ओमन् या अरब के दक्षिणी तट का क्षेत्र हॅड्रॅमाँट या ईरानी समुद्र तट का प्राचीन शहर ओर्मज् आदि के खंडहरों से उसका पता एक न एक दिन लगना संभव है।[43] टेलर का मत अनुमान पर ही आधारित है। डीके और केनन के कथन से भी स्पष्ट होता है कि ब्राह्मी वर्ण दक्षिणी सेमेटिक वर्ण से ही उद्भूत है।

उक्त आचार्यों के मत स्वीकार्य नहीं हो सकते क्योंकि एक तो अरब आक्रमण से पूर्व भारतीय संस्कृति पर अरबी प्रभाव का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। साथ ही भारतीय और अरबी अथवा दक्षिणी सेमेटिक वर्णों में समानता का सर्वथा अभाव है। यह ठीक है कि भारत और भूमध्यसागर के मध्य अवस्थित होने से अरब और भारत के बीच सम्बन्ध सम्भव है किन्तु उससे भारतीय लिपि प्रभावित हुई इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। अतः ब्राह्मी एवं दक्षिणी सेमेटिक वर्णों में समता अत्यन्त नगण्य होने से भारतीय लिपि का दक्षिणी सेमेटिक से प्रभावित होना कोरी-कल्पनामात्र कही जाएगी।

(ii) उत्तरी सेमेटिक - उत्तरी सेमेटिक लिपि से भारतीय लिपि प्रभावित हुई - इस मत के प्रमुख प्रतिपादक आचार्य बूलर हैं। 1895 ई. में बूलर ने 'भारतवर्ष की ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति' विषयक एक छोटी अंग्रेजी पुस्तिका लिखी।[44] यद्यपि यहाँ बूलर ने वेबर के मत का अनुकरण किया है तथा बूलर द्वारा निरूपित मत की स्वीकृति प्रो. मॅक्डॉनल्ड, डॉ. राइस डेविड्ज, डॉ. बार्नेट, प्रो. रॅपसन् आदि ने किया है। बूलर का

---

40 भारतीय पुरालिपि, पृ. 38.
41 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 61.
42 *वही*
43 *वही*
44 *वही*, पृ. 62.

©Indira Gandhi National Open University

मानना है कि दक्षिणी सेमेटिक से ब्राह्मी की उत्पत्ति के विषय में जिन कठिनाइयों का अनुभव किया गया था उसका निराकरण फोनिशिया से लेकर मेसोपोटामिया तक समान रूप में दिखाई पड़नेवाले प्राचीन उत्तरी सेमेटिक वर्णों से ब्राह्मी वर्ण का उद्भव मानने पर हो जाता है। डॉ. बूलर उत्तरी सेमेटिक वर्णों से ब्राह्मी की उत्पत्ति को बतलाते हुए प्राचीन भारतीय वर्णों की निम्न विशेषताओं का उल्लेख करते हैं -

1. वर्ण यथासम्भव सीधे रखे जाते हैं तथा ट, ठ और ब चिह्नों के विरल अपवादों को छोड़कर उनकी ऊँचाई समान रखी जाती है।

2. अधिकांश वर्ण सीधी/खड़ी रेखाओं से बने हैं। इनमें जोड़ की रेखाएँ प्रायः नीचे की ओर लगी है। कहीं-कहीं बिल्कुल ऊपर या बिल्कुल नीचे तथा शायद ही कभी मध्य भाग में है। किन्तु किसी भी उदाहरण में केवल शीर्ष भाग पर योग नहीं है।

3. वर्णों के शिरोभाग पर अधिकतर खड़ी रेखा का सिरा पाया जाता है, उससे कम छोटी आड़ी पाई और इससे भी विरल रूप में अधोमुखी कोणों के शीर्षभाग पर वक्ररेखा। अपवादस्वरूप ही कुछ अक्षर ऐसे हैं जहाँ एक रूप में दो ऊपर जानेवाली रेखाओं के दर्शन होते हैं यथा म ( ) और झ ( )। किसी भी उदाहरण में, लटकती हुई रेखा के साथ त्रिभुज या वृत्त के ऊपर लटकती हुई खड़ी या तिरछी रेखा की सहायता से अगल-बगल रखे गये अनेक कोणों से युक्त शीर्षभाग नहीं मिलता है।

बूलर ने उपरिलिखित विशेषताओं की व्याख्या की। उन्होंने हिन्दुओं की निम्न प्रवृत्तियों को आधार बनाकर उत्तरी सेमेटिक वर्णों से ब्राह्मी के उद्भवविषयक सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है -

1. एक विशिष्ट पण्डिताऊ रूढ़िवादिता का दर्शन होता है।

2. ऐसे चिह्नों को बनाने की इच्छा देखी जाती है जो यथाक्रम पंक्तियाँ बनाने में सहायक होती हैं।

3. शीर्ष गुरु वर्णों के प्रति अरुचि।

उक्त विवेचन के आधार पर बूलर का मानना है कि ब्राह्मी वर्णमाला के 22 वर्ण उत्तरी सेमेटिक वर्णमाला से, कुछ प्राचीन फोनिशियन वर्णमाला से, कुछ मोअब् के राजा मेसा के प्रस्तर अभिलेख से तथा पाँच वर्ण असीरिया के बाटों पर खुदी लिपि से निकले हैं। ब्राह्मी के शेष चिह्न भी गृहीत चिह्नों में कतिपय परिवर्तन करके बना लिये गये हैं।

उत्तरी सेमेटिक मूल से ब्राह्मी की उत्पत्ति माननेवाले आचार्यों में प्रमुख डॉ. डेविड डिरिंजर हैं।[45] उन्होंने विविध अध्ययनों के आधार पर इस विषय पर रखे गये आचार्यों के दो मतों के प्रति मुख्य रूप से अपनी सहमति प्रकट की है, वे हैं-

(i) भारतीय लिपि स्वतंत्र रूप में भारतीयों का आविष्कार नहीं है। व्यापारिक क्रियाकलापों आदि के लिए भारतीयों ने अन्यों से ग्रहण कर पर्याप्त रूप में इसे विकसित किया है।

(ii) यहाँ स्वर और व्यञ्जन ध्वनियों को विशुद्ध वर्णपरक चिह्नों द्वारा व्यक्त करने का विचार पश्चिमी एशिया से लिया गया है।

उक्त मत के समर्थन में डॉ. डिरिंजर कुछ तर्कों का आश्रय लेते हैं, वे हैं -

[45] भारतीय पुरालिपि, पृ. 40.

©Indira Gandhi National Open University

1. सामी वर्णों की तरह ब्राह्मी वर्ण भी आरंभ में दायीं ओर से बायीं ओर लिखी जाती थी। अनेक ब्राह्मी चिह्नों के आकार सेमेटिक प्रभाव को सूचित करते हैं।

2. वे ऐसे विद्वानों के विचारों का उल्लेख करते हैं जिनका यह मानना है कि देखने में अक्षरात्मक होने से भारतीय लिपि किसी वर्णमाला से निःसृत नहीं है जबकि वर्णात्मक लिपि अक्षरात्मक लिपि की अपेक्षा अधिक उन्नत होती है। डॉ. डिरिंजर इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते हुए कहते हैं कि सामी वर्णमाला में स्वरों का पूर्ण अभाव था तथा आवश्यकतानुसार सामी भाषाएँ स्वरचिह्नों के बिना भी काम चला सकती थीं जबकि भारोपीय भाषाएँ ऐसा नहीं कर सकती थीं। यूनानियों ने स्वरचिह्नों की रचनाकर इसका समाधान प्राप्त किया था, भारतीय लोग यहाँ कम सफल रहे। उनका यह भी मानना है कि वर्णात्मक लेखन पद्धति के तत्त्व को ब्राह्मी के आविष्कारक नहीं समझ पाये हों। वे कहते हैं कि यह नितान्त सम्भव है कि सामी लिपि उसे अर्धाक्षरात्मक प्रतीत हुई हो, जैसा कि किसी भी भारतीय आर्यभाषा को बोलनेवाले को प्रतीत हो सकती है।

ब्राह्मी की उत्पत्तिविषयक उत्तरी सेमेटिक सिद्धान्त के विषय में आचार्यों के कथन का प्रतिपादन इस प्रकार भी सम्भव है -

(i) सेमेटिक एवं ब्राह्मी वर्णों में समता दिखायी पड़ती है।

(ii) प्राचीन भारतीय लिपि चित्रपरक थी। किसी भी वर्णात्मक लिपि की उत्पत्ति चित्रवर्णों से सम्भव नहीं है।

(iii) सेमेटिक लिपि की तरह प्राचीन परम्परा में ब्राह्मी भी दायें से बाएँ लिखी जाती थी।

(iv) ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी से पूर्व भारत में लिपि के उदाहरणों का अभाव दिखायी पड़ता है। इसी समय भारत का सम्पर्क पश्चिमी विश्व से हुआ। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क के परिणामस्वरूप ही भारतीय अक्षरों का विकास सम्भव हो पाया।

अनेक आचार्यों, विशेषरूप से प्राच्य विद्वानों ने उक्त मतों की आलोचना की है। प्राच्यविद्वानों की आलोचना के आधार निम्न हैं -

1. यह ठीक है कि उत्तरी पश्चिमी एशिया के फोनिशियन तथा अरेमिक वर्णों और भारत की ब्राह्मी लिपि में थोड़ी समानता सम्भव है किन्तु इस आधार पर बूलर तथा उसके विचारसम्प्रदाय के विद्वानों का यह मत कतई स्वीकार्य नहीं हो सकता है कि ब्राह्मी की उत्पत्ति उत्तर-पश्चिमी एशिया की अरेमिक वर्णमाला से हुई है। डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा का मानना है कि लिपियों में से किसी एक लिपि के साथ भी ब्राह्मी की कुछ भी समानता होती तो इतने भिन्न मतों की आवश्यकता नहीं होती। जिस लिपि के साथ भी सामनता दिखाई पड़ती उसे ही मूल स्वीकार कर लिया जाता। दूसरी बात यह कि जब दो लिपियों की वर्णमाला का परस्पर मिलान करने का यत्न किया जाता है तब कुछ अक्षरों की आकृतियाँ परस्पर मिल ही जाती हैं चाहे उसके उच्चारणों में कितना ही अन्तर क्यों न हो। जैसे कि उर्दू के तीन और अंग्रेजी के दश अक्षर ब्राह्मी की आकृति से मिलती है किन्तु लिपियों के परस्पर संबंध को निश्चित करने की एकमात्र कसौटी समान उच्चारणवाले अक्षरों में समानता का अभाव होने से यह नहीं कहा जा सकता है कि ब्राह्मी लिपि उर्दू या अंग्रेजी से निकली है या उर्दू या अंग्रेजी ब्राह्मी से निकली है। ठीक इसी तरह सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व में फिनिशियन लिपि से ग्रीक अक्षरों का निर्माण हुआ जो आरंभ में दाहिनी ओर से बायीं ओर लिखी जाती थी और जिसे बाद में बायीं ओर से दाहिनी ओर लिखा जाने लगा जिससे कुछ अक्षरों का रुख ही बदल गया। इस परिवर्तन के फलस्वरूप उनसे प्राचीन लेटिन और लेटिन से अंग्रेजी अक्षर बने। फिनिशियन और अंग्रेजी (रोमन) अक्षरों का सम्बन्ध लगभग 2600 वर्ष पुराना है तथापि मिलान

©Indira Gandhi National Open University

करने पर केवल 13 अक्षर ही यहाँ अपने मूल फिनिशियन अक्षरों से मिलते-जुलते हैं।[46] इसी तरह अशोककालीन ब्राह्मी लिपि का हिअरेटिक, फिनिशियन आदि लिपियों के साथ मिलान करने पर यदि यह कहा जाता है कि ब्राह्मी की उत्पत्ति इनमें से किसी एक से हुई है तो उस लिपि के साथ ब्राह्मी की समानता अंग्रेजी और फिनिशियन के बीच की समानता से बहुत अधिक होनी चाहिए थी क्योंकि वर्तमान अंग्रेजी की अपेक्षा ब्राह्मी का फिनिशियन के साथ लगभग 2200 वर्ष पूर्व का सम्बन्ध रहा है।[47] किन्तु जब ब्राह्मी का उक्त लिपियों के साथ मिलान किया जाता है तब जो बातें उभरकर सामने आती हैं तो उससे स्पष्ट होता है कि बूलर द्वारा प्रस्तावित व्युत्पत्ति-सिद्धान्त तर्कहीन है और उसके सिद्धान्त को यदि स्वीकार कर भी लिया जाता है तो संसार कि किसी भी ज्ञात लिपि से उसकी और उससे किसी भी ज्ञात लिपि की उत्पत्ति सिद्ध की जा सकती है, जो आधारहीन प्रतीत होती है।

2. जिस फोनिशियन लिपि से ब्राह्मी वर्णों की साम्यता का निरूपण किया जाता है वे फोनिशियन मूलतः भारतीय मूल के ही माने जाते हैं, वे वैदिक 'पणि' थे जो व्यापार के क्रम में भूमध्यसागर के तट पर बस गये थे और जो अपने साथ भारतीय लिपि को सुदूर उत्तरी-पश्चिमी एशिया ले गये। सेमेटिक लोगों से आवृत्त होने के कारण उनके वर्णों में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। परिवर्तन होते हुए भी उन्होंने दक्षिण सेमेटिक और मिस्र के वर्णों को प्रेरित करनेवाले अरेमिक कहे जानेवाले उत्तरी सेमेटिक वर्णों को भी प्रभावित किया। इससे तो यही स्पष्ट होता है कि आकार व प्रेरणा के आधार पर अनुकरणीय ब्राह्मी लिपि से फोनिशियन या अरेमिक वर्णों ने ही किसी न किसी रूप में कोई न कोई तत्त्व ग्रहण किया।

3. यह कहना कि वर्णात्मक लिपि चित्रात्मक लिपि से निकली है - यह विचार ही भ्रमयुक्त है। यह सत्य है कि सभी प्राचीन लिपियाँ स्वभावतः चित्रात्मक थी किन्तु यह कहना कठिन है कि वर्णों के विकास में चित्रवर्णों की भूमिका कितनी रही। भारत में सिन्धुघाटी से प्राप्त लेखन का प्राचीनतम उदाहरण पूर्ण चित्रात्मक नहीं मानी जाती है बल्कि वे प्रमुख रूप से ध्वनिपरक एवं अक्षरात्मक रहे हैं जिनका झुकाव वर्णात्मकता की ओर रहा है। यहाँ प्रयुक्त अनेक चिह्न जिन्हें भ्रमवश चित्रवर्ण माना जाता है, वस्तुतः ध्वनिव्यंजक चिह्नों के योगमात्र हैं। इस दृष्टि से सिन्धुघाटी की लिपि के साथ ब्राह्मी की संयोज्यता तथा उसकी उत्पत्ति पर विचार करना भी अपेक्षित है।

4. यह कहना कि ब्राह्मी आरम्भ में दाएँ से बायें लिखी जाती थी और इस आधार पर सेमेटिक मूल से उसकी उत्पत्ति का प्रतिपादन करना निर्बल, तर्कहीन एवं संशययुक्त सामग्रियों पर आधृत है। बूलर महोदय के इस संदेहयुक्त चिन्तन का आधार है -

   - अशोक के धौली, जौगड़ादि से प्राप्त अभिलेखों के कुछ अक्षर
   - मद्रास के कर्नूल जिले से प्राप्त अशोक के एरागुड्डी शिलालेख के अक्षर
   - मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले के एरण से प्राप्त सिक्के पर अंकित अक्षर

   अशोककालीन शिलालेखों या एरण के सिक्कों पर कुछ अक्षरों के दाएँ से बाएँ लिखे जाने की प्रतीति के अपने कुछ कारण हो सकते हैं -

   - लेखकों के हस्तदोष या देशभेद के कारण

[46] भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 62.
[47] *वही*, पृ. 63.

©Indira Gandhi National Open University

- सिक्कों पर उत्कीर्ण उक्त दोष कभी-कभी साँचा बनानेवाले या ठप्पा लगानेवाले की गलती के कारण भी संभव हो जाता है।

हुल्श और फ्लीट जैसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उक्त विचार के आधार पर ही बूलर के उक्त मत को स्वीकार नहीं किया है।[48] जहाँ तक एरागुड्डी का प्रश्न है तो विद्वानों के कथन से प्रतीत होता है कि लेख-उत्कीर्णक ब्राह्मी से अभ्यस्त होते हुए भी यहाँ एक नवीन प्रयोग कर रहे थे जहाँ पहली पंक्ति बाएँ से दाएँ तथा दूसरी पंक्ति दाएँ से बाएँ रखी गई है। साथ ही यहाँ दायीं ओर से बायीं ओर लिखी गयी पंक्तियों में केवल स्थान परिवर्तित कर दिया गया है, उनका रूप नहीं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ का प्रयोग एक कृत्रिम प्रयोग है जिसका ब्राह्मी के मूल से कोई सम्बन्ध नहीं है।

5. पाँचवीं शताब्दी ई. पूर्व से पहले भारतीय इतिहास में अक्षरों को लिखने की परम्परा का प्रत्यक्ष रूप से अभाव था - बूलर का यह मत सर्वथा हास्यास्पद प्रतीत होता है। स्वयं बूलर ने भी स्वीकार किया है कि कोई वैदिक ग्रन्थ जिसमें लेखन का निर्देश नहीं है, अवश्य ही उस समय रचा गया होगा जब लेखन भारत में अज्ञात थी, त्याग देना चाहिए। अतः बूलर के चिन्तन में ही यहाँ विरोध दिखाई पड़ता है। दूसरी ओर देखा जाए तो प्राग्बौद्धकाल में लेखन की विद्यमानता के सूचक असंख्य साहित्यिक सामग्रियाँ उपलब्ध मिलती हैं। आज भी अधिक प्राचीनकालीन अवशेषों तक हमारी पहुँच नहीं बन सकी है। साथ ही सिन्धु घाटी से प्राप्त अभिलेखों यथा - चित्रलेखों, भावलेखों एवं ध्वन्यात्मक लेखों का मिलना इस बात को प्रमाणित करता है कि वहाँ लेखनकला किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। अतः ब्राह्मी के पूर्व रूप के अन्वेषण के लिए कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

6. एक बात और कि हियेरेटिक, फिनिशियन आदि लिपियों के साथ जब ब्राह्मी का अध्ययन किया जाता है तो जो बातें उभरकर सामने आती हैं, वे हैं -

(i) इजिप्ट (मिस्र) की हिअरेटिक लिपि का एक भी अक्षर समान उच्चारणवाले ब्राह्मी अक्षर से नहीं मिलता है।

(ii) असीरिया की क्युनिफॉर्म लिपि से न तो फिनिशियनादि सेमेटिक लिपियों का और न ब्राह्मी का निकलना सम्भव है।

(iii) फिनिशियन लिपि की वर्णमला के बाईस अक्षरों में से केवल एक 'गिमेल्' (ग) अक्षर ब्राह्मी के ग से मिलता है।

(iv) प्राचीन ग्रीक (यूनानी) लिपि के दो अक्षर गामा (ग) और थीरा (थ) ब्राह्मी के ग और थ से मिलते हैं।

(v) अरमइक लिपि में से केवल एक गिमेल अक्षर 'ग' से मिलता है।

(vi) खरोष्ठी लिपि की वर्णमाला के 37 अक्षरों में से एक भी अक्षर ब्राह्मी लिपि से नहीं मिलता है

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि बूलर का मत स्वयं संदिग्ध व अस्पष्ट है। वस्तुतः किसी भी ज्ञात वर्णमाला से ब्राह्मी की उत्पत्ति पर चर्चा करने से पहले ब्राह्मी की अपनी विशेषताओं पर ध्यान देना भी आवश्यक है, वे हैं -

1. प्रायः सभी उच्चरित ध्वनियों के लिए ब्राह्मी में स्वतंत्र और असंदिग्ध चिह्न विद्यमान हैं।

[48] भारतीय पुरालिपि, पृ. 43.

©Indira Gandhi National Open University

2. उच्चरित अक्षर और लिखित वर्ण में अभिन्नता की स्थिति है।

3. स्वरों और व्यञ्जनों के लिए सबसे अधिक चिह्न हैं। इसकी संख्या 64 है।

4. ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के लिए भिन्न-भिन्न चिह्न यहाँ दिखाई पड़ते हैं।

5. अनुस्वार (ं), अनुनासिक (ँ) तथा विसर्ग (:) के लिए चिह्न।

6. उच्चारण-स्थान के अनुसार वर्णमाला का ध्वन्यात्मक वर्गीकरण।

7. मात्राओं की सहायता से व्यञ्जनों के साथ स्वरों का योग।

उत्तरी सेमेटिक वर्णमाला में इन विशेषताओं का सर्वथा अभाव है। उत्तरी सेमेटिक वर्णमाला में 18 ध्वनियों के लिए 22 चिह्न हैं। यहाँ उच्चरित अक्षरों तथा लिखित वर्णों में साम्य नहीं है। एक ध्वनि के लिए यहाँ अनेक चिह्न हैं। यहाँ ह्रस्व और दीर्घ स्वर में कोई भेद नहीं है तथा अनुस्वार और विसर्ग के लिए कोई चिह्न भी नहीं है। सेमेटिक वर्णमाला में स्वरों और व्यञ्जनों का मेल नहीं हो सकता। यहाँ स्वर व्यञ्जन के बाद लिखे जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उत्तरी सेमिटिक लिपि से ब्राह्मी लिपि का उद्भववविषयक सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता।

3. फोनिशियन उद्भव का सिद्धान्त

इस मत के प्रतिपादक आचार्य वेबर, बेन्फे, जानसन, बूलर प्रभृति आचार्य हैं।[49] इन आचार्यों का मानना है कि ब्राह्मी अक्षरों का उद्भव फोनिशियन लिपि से हुआ है। इस मत के समर्थक आचार्यों का कहना है कि लगभग एक तिहाई फोनिशियन वर्ण ब्राह्मी चिह्नों के प्राचीनतम रूप के समान हैं, एक तिहाई अन्य वर्ण ब्राह्मी वर्ण से कुछ-कुछ साम्य रखते हैं तथा शेष में न्यूनाधिक समता देखी जा सकती है। ब्राह्मी और फोनिशियन वर्ण में बहुत हद तक समता को देखते हुए भी यह कहना कि ब्राह्मी फोनिशियन लिपि की उपज है - उचित प्रतीत नहीं होता है। अनुचित प्रतीति के कुछ कारण यहाँ इस प्रकार हैं -

1. ब्राह्मी लिपि के प्रादुर्भाव के समय भारत और फोनिशिया के मध्य कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था।

2. फोनिशियन लिपि का प्रभाव पश्चिमी एशिया की पड़ोसी लिपियों पर भी प्रायः नगण्य माना जाता है। फिनिशियन तथा पश्चिमी एशिया के सेमेटिक अक्षरों में समता का पूर्ण अभाव दिखाई पड़ता है।

3. ब्राह्मी लिपि के उद्भव के समय तक फिनिशिया में किसी लिपि का विकास नहीं हुआ था।

4. ब्राह्मी और फोनिशयन लिपि की समता को देखते हुए यह प्रश्न तो उठता है कि दोनों में से कौन किसके ऋणी हैं?

यूनानी इतिहासकारों का मानना है कि फोनिशियन लोग भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर समुद्रमार्ग से पूर्व से आये थे। फोनिशियन एवं पश्चिमी एशिया के सेमेटिक वर्णों में साम्य का अभाव भी इस बात को सूचित करता है कि फोनिशियन लोग इस क्षेत्र में बाहर से आये थे। ऋग्वैदिक प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि फोनिशियन लोग भारतीय मूल के रहे हैं, ऋग्वेद में इन्हें पणि कहा गया है और ये व्यापार के सिलसिले में वहाँ जाकर बस गये थे। इससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि फोनिशियन वर्णमाला भूमध्यसागर के तट पर

[49] भारतीय पुरालिपि, पृ. 37.

©Indira Gandhi National Open University

भारत से ले जायी गई थी। इस दृष्टि से तो भारतीय लेखनकला ने फिनिशियन लेखनकला को प्रभावित किया।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षस्वरूप कह सकते हैं कि ब्राह्मी की उत्पत्तिविषयक फिनिशियन उद्भव का सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं हो सकता। पं. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा का सत्य कथन है कि न तो ब्राह्मी लिपि के अक्षर फिनिशियन या अन्य किसी लिपि से उद्भुत हैं और न ही उसकी बायीं ओर से दाहिनीं ओर लिखने की प्रणाली किसी और लिपि से बदलकर बनाई गई है। यह भारतवर्ष के आर्यों का, अपनी गवेषणा से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांगसुन्दरता के कारण ही इसे इसके कर्त्ता ब्रह्मा से जोड़कर ब्राह्मी कहा गया हो अथवा साक्षरसमाज ब्राह्मणों की लिपि होने से इसे ब्राह्मी कहा गया हो, पर इसमें सन्देह नहीं है कि इसका फिनिशियन से कुछ भी संबंध नहीं रहा था।[50]

(ख) ब्राह्मी की उत्पत्तिविषयक भारतीय/स्वदेशी उद्भव का सिद्धान्त

ब्राह्मीविषयक विदेशी उद्भव का सिद्धान्त भ्रान्तियों तथा विरोधाभासों से भरा हुआ है तथा इससे किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। ब्राह्मीविषयक भारतीय उद्भव के सिद्धान्त के सन्दर्भ में जब पूर्वोक्त विदेशी उद्भव के सिद्धान्त का अध्ययन किया जाता है तब विदेशी उद्भव का सिद्धान्त ताश के पत्ते की भाँति बिखर जाता है। अतः स्वाभाविक ही है कि भारतीय उद्भव के सिद्धान्तों पर भी विचार किया जाए। अनेक भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ने मुक्तकंठ से ब्राह्मी की उत्पत्ति के विषय में भारतीय उद्भव के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। एडवर्ड थॉमस का कहना है कि ब्राह्मी अक्षर भारतवासियों के ही बनाये हुए हैं और उनकी सरलता से उनके बनानेवालों की बड़ी बुद्धिमानी प्रकट होती है।[51] प्रो. डाउसन ने लिखा है कि ब्राह्मी लिपि की विशेषताएँ सब तरह से विदेशी उत्पत्ति से उसकी स्वतंत्रता को प्रकट करती है और विश्वास के साथ आग्रहपूर्वक कहा जा सकता है कि सभी तर्क और अनुमान उसके स्वतंत्र आविष्कार होने के पक्ष में ही है।[52] जनरल कनिंघम का मानना है कि ब्राह्मी लिपि भारतवासियों की निर्माण की हुई स्वतंत्र लिपि है।[53] प्रो. लैसन ब्राह्मी लिपि की विदेशी उत्पत्ति के कथन को सर्वथा अस्वीकार करता है।[54] इसी तरह डॉ. शामशास्त्री, डॉ. मार्शल, जॉन डाउसन, डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल, डॉ. गौरीशंकर ओझा, डॉ. राजबली पाण्डेय आदि ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने भारतीय उद्भव के सिद्धान्त का सफल निरूपण किया है। किन्तु भारतीय उद्भव के सिद्धान्त को भी आचार्यों ने दो दृष्टियों से विवेचित किया है, वे हैं – 1. द्रविड़ उद्भव का सिद्धान्त और 2. आर्य या वैदिक उद्भव का सिद्धान्त। उक्त दोनों स्रोतों के अध्ययनोपरान्त ही कोई निश्चित निष्कर्ष निकालना समीचीन होगा।

1. द्रविड़ उद्भव का सिद्धान्त

इस मत के प्रतिपादक आचार्य एडवर्ड टॉमस, लैसनादि आचार्य हैं। इस मत के अनुयायी आचार्यों का मानना है कि ब्राह्मी वर्णों के आविष्कार का श्रेय द्रविड़ लोगों को है जिसका अनुकरण व अनुसरण आर्यों ने किया था। इस मत का आधार है कि आर्यों के आगमन व प्रसार से पूर्व द्रविड़ों का सम्पूर्ण भारत पर अधिकार था तथा सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध होने के कारण उन्होंने आर्य-आगमन से पूर्व एक लेखनकला या लिपि का आविष्कार किया था। किन्तु यह सम्पूर्ण चिन्तन ही कोरी कल्पनामात्र प्रतीत होती है। अतः यह सिद्धान्त ही संदेहयुक्त है। सन्देह के कई कारण हैं -

---

50 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 76.
51 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 77.
52 *वही*
53 *वही*
54 *वही*

©Indira Gandhi National Open University

(i) यह सिद्ध हो चुका है कि आर्य मूलतः भारतीय ही थे जिसका प्रसार उत्तर पश्चिम से पूर्व भारत की ओर हुआ था। उत्तरी भारत में ही ब्राह्मी का विशिष्ट प्रचार-प्रसार हुआ। द्रविड़ों का आदि प्रदेश दक्षिण भारत था।

(ii) द्रविड़ भाषाओं का विशुद्धतम वर्तमान प्रतिनिधि तमिल में केवल प्रथम एवं पञ्चम वर्ण का प्रयोग देखा जाता है जबकि ब्राह्मी में या प्राचीनतम आर्यभाषा में वर्ग के पाँच वर्णों का प्रयोग पाया जाता है।

(iii) ध्वन्यात्मक दृष्टि से भी देखा जाता है कि तमिल के अल्पसंख्यक वर्ण सम्पन्न ब्राह्मी वर्णों से गृहीत प्रतीत होते हैं।

(iv) ध्वनिशास्त्र के आधार पर भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मी से तमिल लिपि का विकास हुआ। स्पष्ट है कि दक्षिण में लिपियों का प्रसार उत्तर भारत की लिपि के सम्पर्कस्वरूप ही हुआ जिनमें स्थानीय भिन्नता के कारण व्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

स्वदेशी सिद्धान्त के अन्तर्गत कल्पनाधारित उक्त मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

2. आर्य या वैदिक उद्भव का सिद्धान्त

इस मत के प्रतिपादक कनिंघम, डाउसन, मार्शल, डॉ. आर. शामशास्त्री, डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल, डॉ. ओझा, डॉ. राजबली पाण्डेयादि अनेक विदेशी एवं स्वदेशी विद्वान् हैं। कनिंघम महोदय का विचार है कि मानवजाति के इतिहास में लेखन का प्रथम प्रयास भावाभिव्यक्ति के लिए चित्रों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। उनकी दृष्टि में भारतीय ब्राह्मी का प्रारंभिक रूप भी चित्रात्मक रहा होगा जो पहले पदात्मक और फिर अक्षरों के रूप में विकसित हुआ होगा। उनका यह भी मानना था कि यद्यपि भारतीय अक्षर उद्भव में पूर्णतया भारतीय हैं तथापि भारतीयों ने अपनी इस व्यवस्था में मिस्र का अनुकरण किया है।[55] कनिंघम के साथ-साथ जॉन डाउसन, लेसन प्रभृति आचार्यों का कहना है कि आर्य पुरोहितों ने देशी भारतीय चित्रलिपि से ही ब्राह्मी का विकास किया है। यद्यपि उक्त आचार्यों का यह मत भ्रामक एवं अमान्य प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि प्राचीनतम भारतीय चित्रात्मक लिपि का इतिहास अब तक पूर्णरूपेण ज्ञात नहीं हो सका है। सिन्धु घाटी से भी प्राप्त अक्षरों का आधार न तो चित्रकारी लिपि मानी जा सकती है और न ही गूढ़ाक्षर लिपि। साथ ही सिन्धु लिपि का पाठन अब भी संदिग्ध ही है। फिर भी उपलब्ध सामग्री को देखते हुए ही डॉ. मार्शल का विचार था कि ब्राह्मी लिपि के विकास का आधार सिन्धु घाटी के अक्षर थे।[56] लैगडम महोदय का भी मानना था कि ब्राह्मी का उद्भव हड़प्पाई लिपि से ही हुआ।[57] हण्टर महोदय ने भी इस मत का समर्थन किया है।[58] किन्तु आर्य भारतीय हैं - इस मत के साथ-साथ हड़प्पा सभ्यता एवं वैदिक सभ्यता के बीच कालक्रम की समस्या अभी भी बनी हुई है। अतः विकास की क्रमिकता की गति स्थापित करने के लिए इस समस्या का स्थायी निराकरण आवश्यक है।

जॉन डाउसन[59] का मानना है कि भारतीय लिपि की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो विश्व की अन्य किसी दूसरी लिपि से मेल नहीं खाती है। उनका विचार है कि इसका विकास गंगा के किनारे कहीं हुआ होगा जहाँ से यह विश्व के विभिन्न भागों में धीरे-धीरे फैलती गई। उनका यह भी मत है कि सेमेटिक जाति के लोग जहाँ

---

55 भारतीय पुरालेखों का अध्ययन, पृ. 20.
56 *वही*, पृ. 21.
57 *वही*
58 *वही*
59 *वही*

©Indira Gandhi National Open University

अपनी लिपि को दायीं से बायीं ओर लिखते थे, वहीं भारतीय बायीं से दायीं ओर लिपि का व्यवहार करते थे। उन्होंने भारतीय लिपि को हिन्दुओं की खोज माना है।

डॉ. आर. शामशास्त्री[60] ने ब्राह्मी लिपि के विषय में भारतीय उद्भव के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। **'देवनागरी लिपि की उत्पत्ति के विषय का सिद्धान्त'** नामक एक विस्तृत लेख में उन्होंने ब्राह्मी अक्षरों के विभिन्न चिह्नों को देवों तथा देवनगर के चिह्नों से सम्बद्ध किया है तथा तांत्रिक-ग्रन्थों को अपनी गवेषणा का आधार बनाया है। उनका कहना है कि देवताओं की मूर्त्तियाँ बनने के पूर्व उनकी उपासना सांकेतिक चिह्नों के द्वारा होती थी, जो कई त्रिकोण तथा चक्रों आदि से बने हुए यंत्रों, जिसे देवनगर कहा जाता था, के मध्य लिखे जाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जानेवाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालान्तर में उन-उन नामों के पहले अक्षर माने जाने लगे और देवनगर के मध्य उनका स्थान होने से उनका नाम देवनागरी हुआ। किन्तु जिन तान्त्रिक-ग्रन्थों का यहाँ आश्रय लिया गया उसे तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता है जबतक यह सिद्ध न हो जाता है कि वे तान्त्रिक-ग्रंथ वैदिक साहित्य के काल से पूर्व के हैं अथवा कम से कम मौर्यकाल से पूर्व के हैं। अब तक का इतिहास तो यही बतलाता है कि तन्त्रग्रन्थ की रचना अत्यन्त परवर्तीकालीन रही है। अतः डॉ. शामशास्त्री का मत अस्पष्ट ही प्रतीत होता है।

बाबू जगन्मोहन वर्मा[61] ने अपने एक लेख के माध्यम से यह बताने का यत्न किया था कि वैदिक चित्रलिपि या उससे निकली हुई सांकेतिक लिपि से ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ था। परन्तु उस लेख में कल्पित वैदिक चित्रलिपि के अनेक मनमाने चित्र का अनुमान कर उनसे भिन्न अक्षरों के विकास की जो कल्पना की गई थी उसमें एक भी अक्षर की उत्पत्ति के लिए कोई भी प्राचीन लिखित प्रमाण नहीं दिया जा सका। प्रमाणरहित होने से उनका मत स्वीकार्य नहीं हो सकता। साथ ही बाबू जगन्मोहन वर्मा का यह मत कि ट, ठ, ड, ढ और ण - ये पाँच मूर्धन्य वर्ण आर्यों के नहीं थे तथा आर्यों ने वैदिक काल के आरम्भ में इन्हें अनार्यों से ग्रहणकर अपनी भाषा का अंग बनाया - भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल, डॉ. ओझा, डॉ. राजबली पाण्डेयादि आचार्यों ने भाषाविज्ञान के विवेचन के आधार पर ध्वनिशास्त्र की सहायता से यह मत व्यक्त किया है कि अक्षरों का विकास ऋग्वैदिक काल में ही हो चुका था। इस आधार पर उक्ताचार्यों ने ब्राह्मी लिपि के अक्षरों के निर्माण में किसी भी विदेशी प्रभाव को अस्वीकार कर दिया है तथा ब्राह्मी लिपि के विकास को निर्विवाद रूप से वैदिक काल के साथ संयोजित किया है।

ब्राह्मी लिपि के स्वदेशी उत्पत्ति सिद्धान्त के प्रखर आलोचक डॉ. डेविड डिरिंजर[62] ने स्वदेशी मूल के समर्थकों को निम्नलिखित तथ्यों के विषय में सावधान किया है, वे हैं -

(i) किसी देश में दो आक्रामक लिपियों का अस्तित्व यह सिद्ध नहीं करता है कि दूसरी पहले पर आधारित थी।

(ii) यदि सिन्धुघाटी के चिह्नों तथा ब्राह्मी वर्णों में आकार-साम्य सिद्ध हो भी जाता है तो भी सिन्धु घाटी की लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति तब तक स्वीकार नहीं की जा सकती है जब तक यह सिद्ध न हो जाता है कि दोनों लिपियों के समान चिह्नों द्वारा व्यक्त ध्वनि भी समान है।

(iii) सिन्धुघाटी की लिपि संभवतः सांक्रांतिक पद्धति या मिश्रित अक्षरवाली भावपरक लिपि थी जबकि ब्राह्मी अर्धाक्षरी थी। अतः सिन्धुघाटी की भावपरक लिपि ब्राह्मी की अर्धवर्णात्मक लिखावट को कैसे विकसित कर सकती है।

---

60 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 78.

61 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 78-79.

62 भारतीय पुरालिपि, पृ. 34.

©Indira Gandhi National Open University

(iv) बृहत् वैदिक वाङ्मय में प्राचीन आर्यावर्त में लिखावट के अस्तित्व का न तो कोई निर्देश है और न तो प्रसंग। यहाँ ज्ञान, विद्या एवं वाक् की देवी सरस्वती की चर्चा तो है किन्तु लिपि से संबंधित किसी देवता का नहीं।

(v) केवल बौद्ध साहित्य में लिखावट के निर्देश प्राप्त होते हैं।

(vi) केवल अभिलेखों के आधार पर यह माना जाता है कि छठी शताब्दी ई.पू. में ब्राह्मी लिपि विद्यमान थी।

(vii) आचार्यों के अनुसार 800-600 ई. पूर्व का काल भारत में व्यापारिक जीवन में विशिष्ट उन्नति का काल था। इसी काल में भारत के दक्षिण-पश्चिम तट से बेबीलोन के साथ नौ-व्यापार का विकास हुआ था। कहा जाता है कि व्यापारिक विकास ने लेखन के ज्ञान के प्रसार में सहायता प्रदान की थी।

(viii) भारत के प्राचीन आर्य-इतिहास के विषय में अत्यल्प ज्ञान प्राप्त है।

(ix) ई. पूर्व छठी शताब्दी में उत्तरी भारत की एक विशेष धार्मिक क्रान्ति से अस्तित्व में आये जैन और बौद्ध धर्म ने लिपि के प्रसार में विशेष सहायता प्रदान की। जैन एवं बौद्ध धर्म में भी विशेषकर बौद्ध धर्म ने लिपि के ज्ञान के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

(x) संक्षेपतः, प्रमाण के विभिन्न सूत्र आर्य-भारत में लिपि के प्रवेश के लिए ई. पूर्व आठवीं और छठी शताब्दियों के बीच का काल सूचित करते हैं।

भारतीय आचार्यों ने उक्त आक्षेपों का सम्यक् परीक्षणकर समुचित निराकरण प्रस्तुत किये हैं, वे हैं -

1. इनमें प्रथम दो कथन नितान्त असंगत हैं। किसी देश में विद्यमान दो आक्रामक लिपियों में से पूर्ववर्ती लिपि से परवर्ती लिपि के निकलने की पुष्टि तब तक स्वीकार्य है जब तक उसके विरुद्ध कोई प्रमाण सामने न आ जाए।

2. तृतीय कथन के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि अब तक यह सिद्ध नहीं हो पाया है कि सिन्धुघाटी की लिपि में ध्वनितत्त्व का अभाव है।

3. चतुर्थ धारणा पूर्णतः मिथ्या है। हिन्दू देवमण्डल में स्वयं सरस्वती तथा ब्रह्मा दोनों ही अपने एक हाथ में पुस्तक लिए हुए प्रदर्शित किये गये हैं। छठी शताब्दी ई. पूर्व के पहले की एक युगल मूर्त्ति में साथ खड़े एक पुरुष और स्त्री की मूर्त्ति में से स्त्रीमूर्त्ति के हाथ में मुड़ी हुई एक पुस्तक है जो छठी शताब्दी ई. पूर्व के पहले भारत में लेखन कला के अस्तित्व को प्रकट करता है।

4. पाँचवीं युक्ति के अन्यथात्व की सिद्धि के लिए बौद्ध साहित्य की पृष्ठभूमि का अनुशीलन तथा वेदांगों और वैदिक साहित्य का अध्ययन आवश्यक है।

5. छठी युक्ति केवल स्मारक-अवशेषों का निर्देश करती है जिससे नाशवान् सामग्री पर लेखन का खंडन नहीं हो जाता है।

6. भारत तथा पश्चिम के बीच व्यापारिक सम्बन्ध विषयक सातवीं युक्ति से भारत का ऋणी होना सिद्ध नहीं होता है, वस्तुस्थिति इसके विपरीत भी हो सकती है।

7. आठवीं युक्ति में यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई है कि पश्चिमी एशिया की सभ्यता की अपेक्षा भारत की सभ्यता कम पुरानी है। श्रीतिलक एवं श्रीशंकर के वैदिक वाङ्मय के कालविषयक

©Indira Gandhi National Open University

सिद्धान्त पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में कोरी कल्पना है किन्तु बूलर और विण्टरनित्स जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारत में आर्य सभ्यता का प्रारंभ ई. पूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी रखा है।

8. जहाँ तक नवम युक्ति का संबंध है तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैन और बौद्ध धर्मों ने प्राकृतों को तथा उसके साथ लेखन को लोकप्रिय बनाया, किन्तु दोनों ही धर्म वैदिक या लौकिक भाषा के लिए लेखन की पूर्वकल्पना करते हैं। वास्तव में बुद्ध ने अपने शिष्यों को छन्दों (वैदिक या लौकिक संस्कृत) में अपने संवाद को लिखने के लिए निषिद्ध किया था।

9. दशम युक्ति कल्पना पर आधारित होने से बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होता है। इस युक्ति से यह बात ध्वनित हो रही है कि लेखन का मूल आर्येतर है तथा आर्य भारत में बाहर से आये थे - उक्त कथन पूर्णतः निराधार है।

यहाँ डॉ. डिरिंजर द्वारा प्रस्तुत कोई भी युक्ति तथ्यपरक एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती है जो भारत में पूर्व से ही विद्यमान लेखन पद्धति से ब्राह्मी के विकास को निषिद्ध करता हो।

ब्राह्मीविषयक स्वदेशी उत्पत्ति सिद्धान्त पर विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ध्वनि, उच्चारण, आकृति, व्याकरणादि की दृष्टि से ब्राह्मी विश्व में उपलब्ध अन्य लिपियों के सर्वथा पृथक् है। इसकी अपनी विशिष्टता है जो पूर्णतः भारतीय है और जो इसे विश्व की अन्य लिपियों से पृथक् करती है। अन्ततः हम कह सकते हैं कि यह पूर्णतः भारतीय लिपि है जिसके उद्भव का मूल भारत है। इस दृष्टि से ब्राह्मी के उत्पत्तिविषयक स्वदेशी या भारतीय उद्भव का सिद्धान्त सर्वमान्य व सर्वस्वीकार्य है।

सन्दर्भग्रन्थ-सूची

1. अभिलेखमाला, झा, पं. रमाकान्त और झा, पं. हरिहर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सप्तम संस्करण, 2004.

2. अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, थापर, रोमिला, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण, 1977.

3. अष्टाध्यायी, पाणिनि, सम्पादक - पाण्डेय, गोपालदत्त, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1987.

4. आधुनिक भारत का इतिहास, ग्रोवर, वी.एल., एस. चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981.

5. उत्कीर्णलेखास्तबक, कम्बोज, डॉ. जियालाल, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2015.

6. ऋग्वेद संहिता, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994.

7. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद, 1997.

8. प्राचीन भारत का इतिहास, महाजन, विद्याधर, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., रामनगर, नई दिल्ली।

9. भारत का इतिहास (1000 से 1707 तक), श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1992.

©Indira Gandhi National Open University

10. भारत के प्रसिद्ध अभिलेख, अवस्थी, आचार्य डॉ. श्रीपति, जे.पी. पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007.

11. भारतीय पुरालिपि, पाण्डेय, डॉ. राजबली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण: 2012.

12. भारतीय पुरालेखों का अध्ययन, सहाय, डॉ. शिवस्वरूप, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, संशोधित तृतीय संस्करण, 2000 ई.

13. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, ओझा, रायबहादुर हीराचन्द राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण, 1918.

14. भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र, द्विवेदी, डॉ. कपिलदेव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पञ्चम संस्करण, 1998.

कोशग्रंथ

1. संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, वामन शिवराम, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1966.

2. शब्दकल्पद्रुम (1-5 भाग), देव, राजा राधाकान्त, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, प्रथम पुनर्मुद्रित संस्करण, 1987.

3. वाचस्पत्यम् (1-6 भाग), भट्टाचार्य, श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, प्रथम भाग, प्रथम संस्करण, 1969; द्वितीय से षष्ठ भाग, प्रथम संस्करण 1970.

आंग्ल-भाषा

1. संस्कृत-आंग्ल कोश, आप्टे, वामन शिवराम, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1970.

©Indira Gandhi National Open University

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का काव्यशास्त्रीय अवदान

डॉ. देवेश कुमार मिश्र
सह आचार्य, संस्कृत संकाय
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू , नई दिल्ली
Email: dkmishra@ignou.ac.in

शोध- सारांश : संस्कृत भाषा का काव्यशास्त्र एक विशालतम काव्यशास्त्र है। वैदिक एवं लौकिक साहित्य के सन्धिकाल की वेला से ही संस्कृत काव्य जगत का परम्परा के रूप में प्रारम्भ है। वेदों में कविता के बीज और इसके नियमन करने वाले शास्त्रीय तत्व पाये जाते हैं। किन्तु शास्त्र की परम्परा के रूप में काव्य के शरीर के निर्माण और उसके आत्मतत्व का विचार आचार्य भरत से आरम्भ है। पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक काव्यशास्त्र की परम्परा सम्प्रदाय के रूप में प्राप्त हुई। छ: सम्प्रदायों में विस्तृत संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्त पक्ष पर विचार करते हुए 21वीं शताब्दी में आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने नवीन प्रस्थापना करने का प्रयास किया। जिसमें अलंकार को काव्य के लक्षण में आत्मतत्व के रूप में अलंब्रह्मवाद द्वारा स्थापित किया। काव्य के कारणों पर विचार करते हुए केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना। काव्यप्रयोजनों के लिए विचार करते समय आचार्य द्विवेदी ने तीन प्रकार के अभिनव प्रयोजनों का तार्किक रूप से वर्णन किया। इस प्रकार काव्य के शरीर और आत्मा के विचार की परम्परा में आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का महत्वपूर्ण योगदान प्रतीत होता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र विषयक दृष्टि

प्रोफेसर रेवाप्रसाद द्विवेदी को महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित किया गया है। इनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ हैं। जिनमें महाकाव्य तो हैं ही, इसके अतिरिक्त अन्य विधाओं में भी कवि ने सफलतापूर्वक कार्य किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आप कतिपय मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक माने जाते हैं। काव्यशास्त्र की परम्परा लगभग चार हजार वर्ष से अधिक पुरानी है। वेदों में काव्यशास्त्र के तत्व बीजरूप में पाये जाते हैं । किन्तु इसकी शास्त्रीय परम्परा के रूप में भरत मुनि के कालखण्ड से ही इसकी शास्त्रीय समृद्धि प्राप्त होती है। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के द्वारा विरचित **काव्यालङ्कारकारिका** में संस्कृत साहित्यशास्त्र की पूरी परम्परा को तार्किक दृष्टि से देखा जा सकता है। इस ग्रन्थ में उन्होंने नई दृष्टि से काव्यशास्त्र का अध्ययन करने के पश्चात् वर्णन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने काव्यशास्त्र की मान्यताओं को स्थापित किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के जिन तत्वों को अभिनव दृष्टि से कवि ने काव्यालङ्कारकारिका में स्थापित किया है उनमें – अलंकार का लक्षण, काव्य मात्र में अलंकार की एकनिष्ठता, अलंकार की काव्यात्मता, अलंकार की वाक्यार्थता, अलंकार की अवाच्यता आदि का स्थापन है। यहाँ पर द्विवेदी जी के जिस अवदान का अध्ययन करना अभीष्ट है, वह एक मात्र नवीन तत्वों की स्थापना का सन्दर्भ ही है। यहाँ यह देखना है कि एक ओर रस सम्प्रदाय के मानने वाले आचार्यों ने रस की काव्यात्मता को काव्य की आत्मा के रूप में मान्यता दी तो दूसरी ओर अनेक आचार्यों ने गुण, रीति, वक्रोक्ति , औचित्य आदि की स्थापना की। आचार्य द्विवेदी ने काव्य की आत्मा के रूप में अलंकार को स्थापित करने का जो प्रयास किया है, उसमें हमें सबसे पहले इनके पूर्व अलंकार सम्प्रदाय पर संक्षेप में दृष्टिपात कर लेना चाहिए।

साहित्यशास्त्र में अलंकार की मान्यता

संस्कृत साहित्यशास्त्र की परम्परा में मुख्य रूप से छ: सम्प्रदाय माने गये हैं। जिनमें रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य आते हैं। आचार्य भरतमुनि ने उपमा, रूपक, दीपक, यमक इन्हीं चार अलंकारों को माना । इन चारों में तीन अर्थालंकार हैं, यमक शब्दालंकार है। जिनमें अलंकार की स्थिति अर्थ के आश्रित रहती है, उन्हीं को अर्थालंकार कहते हैं।

©Indira Gandhi National Open University

इसका मतलब जहाँ पर शब्द से अधिक महत्वपूर्ण अर्थ हो । इसी प्रकार शब्दालंकार को भी जानना चाहिए। यह परम्परा आचार्य दण्डी के काव्यादर्श, भामह के काव्यालंकार, वामन के काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह , रूद्रट के काव्यालंकार तक विकसित हुई । इस क्रम में भोजराज , जयदेव ,रूय्यक ,मम्मट , विश्वनाथ , अप्पयदीक्षित एवं पण्डित राज जगन्नाथ के रसगंगाधर नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ तक अलंकारों के विकास की दीर्घ परम्परा दृष्टिगोचर होती है। कुल मिलाकर इनकी संख्या आचार्यों ने 432 तक पहुंचा दिया। आचार्य रेवाप्रसाद ने अलंकार के प्रकारों का विवेचन तो नहीं किया किन्तु उन्होंने अलंकार तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का कार्य किया। इस क्रम में अलंकार शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या भी करना अनिवार्य प्रतीत होता है। यह शब्द अलम् और कार्य दो शब्दों से मिलकर बना है। अलम् के अनेक अर्थ माने गये हैं-

1. अलम् शब्द पर्याप्त या पूर्णता के अर्थ का वाचक होता है । अमरकोश के आधार पर – **अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्** अर्थात् इसका अर्थ अलम्, भूषण, पर्याप्ति, शक्ति और वारण होता है। [1]

2. इस शब्द का निर्माण यदि 'अल्' प्रत्याहार से माना जाए तो यह व्याकरण के अनुसार स्वर एवं व्यंजन वर्णों के संयोजित रूप में दिखाई देता है। अर्थात् हिन्दी संस्कृत भाषा का एक संसार इसे मानना पडेगा।

3. 'अलम्' पद अल् भूषणादौ, परस्मैपदी धातु से निर्मित द्वितीयान्त

प्रातिपदिक माना जाता है।

4. अलंकार पद अलम् के साथ कृ धातु से घञ् प्रत्यय के योग से बना है। इसमें कारपद को स्वार्थक पद भी माना जाता है। जैसे ओंकार पद बनता है उसी प्रकार यह भी ।

इन्हीं उपर्युक्त आधारों पर आचार्य द्विवेदी के द्वारा अपने अलं ब्रह्म नामक ग्रन्थ में काव्य की अभिनव व्याख्या की गई है। जैसे-

ननु वेदवद् देववद् गुणवद्वा सुप्रसिद्धैव त्रयी परिभाषाणां साहित्ये काव्यमिति , नाट्यमिति साहित्यमिति चेति। आसु काव्यमित्यस्या प्रवृत्तौ शब्दः, नाट्यमित्यस्याः अर्थः साहित्यमित्यस्याश्च सम्बन्धो भवति निमित्तम । एतान्येव हि त्रीणि पदानि भगवतस्त्रिविक्रमस्य यैराक्रान्तमिदं विश्वं कणशः। अथ यः शब्द स वेदादिरूपः, अर्थो विभावादिरूपः सम्बन्धश्च भाव्यभावकभवादिरूपः। एतत्त्रिकस्यैव कृते उद्गीर्यते- शटदार्थौ सहितौ काव्यमिति। अयमत्र निगूढोऽयमभिप्रायः 'शब्दार्थौ सहितौ नाट्ये काव्यमित्यभिधीयते' इति । [2]

अर्थात् वेद तीन हैं, देवता भी तीन हैं और गुण भी तीन हैं। इस क्रम में काव्य, नाटय और साहित्य तीन प्रकार की परिभाषाएं प्राप्त होती हैं, जो शब्दार्थ सम्बन्ध रूपी साहित्य की ही होती हैं। यही वेद में वर्णित त्रिविक्रम के तीन पैर की भांति सम्पूर्ण वाङ्मय को समेटे हुए रहता है। आचार्य कुन्तक ने अलंकार शब्द को लोक में शोभा का वर्धक मानते हुए इसकी अतिशयता को कहा है। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कारकारिका में अलंकार जो लक्षण प्रतिपादित किया है वह इस प्रकार देखने योग्य है-

अलम्भावो ह्यलङ्कारःस च सौन्दर्यतत्कृतोः।

विभक्तात्मा विभुर्जीवब्रह्मोश्चिद्धनों यथा ।[3] काव्यालं.28

©Indira Gandhi National Open University

अर्थात् अलं भाव ही वास्तविक अलंकार है। वह सौन्दर्य के निष्पादक तत्वों और सौन्दर्य दोनों में रहता है। यह कैसे रहता है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं- जिस प्रकार एक ही चैतन्य तत्व जीव और ब्रह्म दोनों में रहता है। उसी प्रकार अलंकार तत्व भी सौन्दर्य और सौन्दर्य के निष्पादक तत्वों में रहता है। अत: यहाँ पर आचार्य का कहना है कि वेदान्त में प्रयुक्त महावाक्यों की तरह जीव और ब्रह्म की एकता का जिस प्रकार प्रतिपादन होता है। उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।

इसी आधार पर आचार्य द्विवेदी ने काव्य में अलंकार को प्रतिष्ठा दी है। इनके अनुसार सौन्दर्य और अलंकार में कोई भेद नहीं है। इस बात की व्याख्या करते हुए इन्होंने पुन: एक दृष्टान्त दिया है-

अनलो भगवान् मूलभूतौ विश्वचमत्कृत:।

पुष्पवन्तावभिव्याप्य यथा सम्यग् विराजते।। [4] काव्यालं.29।।

यहाँ इस दृष्टान्त में इनका मानना है कि जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा में एक ही अग्नि तत्व विद्यमान रहता है, उसी प्रकार अलंकार भी सौन्दर्य में तथा सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाले तत्वों में होता है। इस क्रम में आचार्य द्विवेदी ने अंलकार शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों को स्वीकार करते हुए अपने अलंकार सम्बन्धी मत को प्रतिष्ठित किया है। अलंकारों की प्रधानता को प्रमाणित करने के लिए रेवाप्रसाद जी ने अन्य दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। जैसे-

वटस्य बीजं वृक्षश्च महांछखाशतैर् वृत:।

तस्य चित्रं च यत् तत्राप्यलम्भावोऽयमीक्ष्यताम्।।

शैल: शिला तथा मूर्तिर्मृत्स्ना ना पिण्डस्तथा घट:।

एतत्त्रिकेऽप्यलम्भाव: सुमनोभिरवेक्ष्यताम् ।। [5]काव्यालं. 31-32।।

काव्ये सर्वेऽप्यलङ्कारा वाक्यार्थविधया विदाम्।

सम्बित्कुटीशुकायन्ते न लभन्ते च वाच्यताम्।। [6]काव्यालं. 42।।

उर्पयुक्त उदाहरणों में यह कहा गया कि मूल रूप में वटवृक्ष और हजारा शाखाओं से घिरा हुआ वटवृक्ष तथा किसी कलाकार द्वारा बनाए गए वटवृक्ष के चित्र में वटवृक्ष ही उपस्थित रहता है। वृक्ष बीज का विस्तार है। अत: भिन्न नहीं है। इसी प्रकार कविता में भी अलं भाव रूपी अलंकार सौन्दर्य एवं उसके निष्पादक तत्वों में विद्यमान रहता है। पर्वत और उसकी शिला और शिला से बनी हुई मूर्ति तथा मिट्टी , मिट्टी का पिण्ड और उससे बना घड़ा । इन दोनों दृष्टान्तों में भी वटवृक्ष जैसा तथ्य ही समझना चाहिए। इसी क्रम में काव्य के आत्मतत्व की सिद्धि के लिए आचार्य रेवाप्रसाद ने जो सिद्धान्त गढे हैं उनमें तीन मुख्य रूप से और देखे जा सकते हैं –

काव्यस्यांगपराक्षायामलंकारो हि नस्तत:।

दिवौकसामरण्यानां मधुमासो यथा गुरू:।। [7] काव्यालं. 25।।

अलङ्कारोप्यलंभावरूपो ज्ञानात्मक : परम्।

ज्ञानरूपे यत: काव्ये नाज्ञानात्मा भवेद् गुण: ।। [8] काव्यालं. 124।।

©Indira Gandhi National Open University

काव्ये धर्माश्च धर्मी च समवायश्च तद्गत: ।

सर्वमेतत् सदा संवित्स्वर्णपंजरज: शुक:।। काव्यालं. [9]125।।

उपर्युक्त उदाहरणों में कहा गया है कि जिस प्रकार देवताओं के उद्यान में मधुमास का ही महत्व होता है। वैसे ही काव्य के शरीर पर विचार करने पर अलंकार ही उसमें महत्वपूर्ण तत्व दिखाई देता है। शब्दज्ञान और अर्थज्ञान का सम्बन्ध ही काव्य होता है। यह सम्बन्ध कवि की प्रतिभा से जुडा होता है। अत: यदि यह कहा जाय कि ज्ञानात्मक काव्य रूपी अधिकरण में उपस्थित होने वाला अलम्भावात्मक अलङ्कार ज्ञानात्मक ही हो सकता है। ज्ञानात्मक काव्य में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं रह सकती जो ज्ञानरूप न हो। अत: अलङ्कार भी ज्ञानरूप होता है, ऐसा माने तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । काव्य में गुण, रीति, शब्दार्थ आदि धर्मों का समवाय सम्बन्ध रहता है। इसके लिए आचार्य ने कहा कि जिस प्रकार सुवर्ण के पिंजरे में बैठी शुकी में संवित रूप से चेतना रहती है उसी प्रकार काव्य रूपी स्थिति में भी प्रज्ञा, बुद्धि, धी आदि सभी रहते हैं। इन्हीं मतों से आचार्य ने समवायी, असमवायी और निमित्त कारणों का उल्लेख करते हुए अलंकार के आत्मतत्व की सिद्धि का तर्क दिया है।

आचार्य रेवाप्रसाद की मान्यता है कि आगम और निगम ही संस्कृत कविता की पृष्ठभूमि बनते हैं। इन्होंने अलं ब्रह्मवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादन में जो युक्त दिया है। वह साहित्यशास्त्र का महावाक्य है। आचार्य ने कविता को भी ब्रह्मविद्या के समान नि:श्रेयस का साधक माना । इस सिद्धान्त की सिद्धि के लिए रेवाप्रसाद द्विवेदी को अग्निपुराण के 337 से 47 तक वर्णनों का सहारा लेना पड़ा है। निर्णय सागर प्रेस से 1936 में प्रकाशित साहित्यदर्पण के परिशिष्ट में अग्निपुराण का जो मूल प्रकाशित हुआ, उसमें ब्रह्म के पर्याय के रूप में निम्नलिखित कारिका प्राप्त हुई –

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुं।

वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।। [10] अग्निपुराण 339. 1 ।।

ऊपर की इस उदाहरण में ब्रह्म के वाचक पदों में 'अलम्' पद की प्राप्ति हो रही है। पाठ भेद में कहीं-कहीं अजम् मिलता है। किन्तु यहाँ पर अलं को ही प्रामाणिक माना गया है। इस सिद्धि में आचार्य का मानना है कि अलंकार पद में प्रयुक्त अलम् शब्द ब्रह्म का पर्याय है। नि:श्रेयस की सिद्धि ही कविता का अन्तिम लक्ष्य है। अत: यहाँ पर इन्होंने शास्त्रों के लक्ष्य से समानता स्थापित की है। इनका मानना है कि अलम् पद ब्रह्म का वाचक होकर सम्पूर्ण कविता को आगमों की तरह दार्शनिक आधार प्रदान करता है । अत: अलंकार पद कविता में पूर्णता का नियामक तत्व है। अब यहाँ प्रश्न आता है कि किस बात की पूर्णता ? तो उत्तर होगा आनन्द की पूर्णता । ऐसा होते ही गुण, रीति, रस आदि जो काव्य धर्म है वे सब अलंकार की परिधि में आ जाएंगें और वे ही पूर्णता के नियामक बनकर अलंकार कहलाएंगे। व्याकरण शास्त्र के सम्प्रदान कारक में आए हुए उदाहरण- **दैत्येभ्यो हरिरलम् ,** [11] में दैत्यों का विनाश करने के लिए हरि अर्थात् विष्णु पर्याप्त हैं, समर्थ भी हैं और शक्तिशाली भी हैं। अत: इस प्रयोग में तो अलम् पद शक्ति और पर्याप्ति का ही वाचक है।

काव्यशास्त्र के उपर्युक्त सिद्धान्त को आचार्य रेवाप्रसाद ने प्रवर्तित किया है। इसी सिद्धान्त के अभिनव महावाक्य अलं ब्रह्म की स्थापना इन्होंने अपने ग्रन्थ (अलं ब्रह्म) में की है। इसमें सम्पूर्ण वर्णमाला अपनाई गई है। शब्दों की सृष्टि और अर्थों की सृष्टि अपनाई गई है। जैसे-

आगमोऽग्निपुराणेऽस्य कथितस्त्वहमागम: ।

अकारादिर्हकारान्ता सृष्टि: शब्दार्थयोर्मता ।।

अहमेवास्त्यलङ्कार: कारस्य स्वार्थतासृतौ ।

©Indira Gandhi National Open University

ब्रह्मौवाभिहितं नान्यदिहालमिति संज्ञया ।।

अरंपदे श्रुतिर्या तु रेफात्मा सैव लश्रुतिः।

कालस्य पर्यये जाता तमेवार्थं विवृण्वती ।। [12] काव्यालं. 10- 12 ।।

अर्थात् अलम् पद ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का वाचक नहीं है। वैदिक पद अरं में र की श्रुति ही ल की श्रुति में कालक्रम के अनुसार बदल कर अलंकार शब्द की श्रुति में उपस्थित हो गई है। इस प्रकार इनकी मान्यता में साहित्यशास्त्र भी ब्रह्मविद्या का प्रतिपादक हो जाएगा। आचार्य द्विवेदी के अनुसार अलंकार ही काव्य की आत्मा है, क्योकि आनन्द की पूर्णता नियामक होकर वही काव्य में पाया जाता है। रस सहृदय में रहता है। किन्तु उसकी व्यंजक सामग्री जो अलंकार है, वह शब्दार्थरूपी काव्य में पाया जाता है। रस को काव्य की आत्मा मानने पर अन्य के शरीर में पाए जाने वाले धर्म को ही अन्य नियामक मानना पडेगा। ऐसा सम्भव नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार की स्थिति में काव्य में प्राप्त होने वाले अलंकार को ही काव्य की आत्मा माना जाना तर्कसंगत है। ध्वनिवादियों ने अलंकार को शब्दार्थ से वाच्य माना, यह असंगत कहा जा रहा है । क्योंकि अलंकार वाक्यार्थरूप होता है । जो भी तत्व संसर्ग की मर्यादा के कारण अवभासित होता है। वह कभी भी वाच्य नहीं हो सकता । अलंकार कविता का अभिन्न अंग है, उसके बिना काव्य की परिकल्पना करना ठीक नहीं। अत: रेवाप्रसादद्विवेदी के मत में अलंकार काव्य का आत्मतत्व है।

काव्यलक्षण , काव्यहेतु और काव्यप्रयोजन

आचार्य भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक की आचार्य परम्परा में प्राप्त काव्यलक्षण, काव्यहेतु एवं काव्यप्रयोजनों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उक्त तीनों तत्वों के लिए आचार्य रेवाप्रसाद ने अपने अतिरिक्त मत की स्थापना का प्रयास किया है। अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कारकारिका में काव्य का जो नया लक्षण प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है-

आनन्दकोषस्योल्लासे शब्दब्रह्मविभाविता ।

अलङ्कृतार्थसंवित्ति : कविता सर्वमङ्गला।। [13] काव्यालं. 1

अर्थात् आचार्य द्विवेदी के अनुसार अलंकृत अर्थ की संवित्ति अर्थात् चैतन्य का विमर्श ही कविता है। आनन्दकोष के उल्लास के लिए शब्दब्रह्म से प्रेरित लोकोत्तर विभावन , व्यापार ही संवित्ति के भीतर रहता है। लोकोत्तर होने के कारण ही वह काव्य के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं पाया जाता। कविता का यही स्वरूप सर्वमंगलकारी होता है।

यहाँ पर आनन्दकोष, शब्दब्रह्म, उल्लास, सर्वमंगला आदि शब्दों के प्रयोग से आचार्य ने बहुत गम्भीर स्थापना किया है। क्योंकि ये सभी शब्द अपने आप में महत्तम गम्भीरता और अर्थ को धारण करने वाले हैं। संवित्ति को केन्द्र में रखा है। आगे चलकर आचार्य ने काव्य को ज्ञानरूप कहा है।

देखने योग्य यह है कि उक्त काव्यलक्षण में रचना पक्ष की प्रधानता तो है ही, बल्कि सहृदय के हृदय में होने वाली रसानुभूति का अथवा आनूभूतिक परिणाम का समाधान भी दिया गया है। वेदान्त में मान्य जीवात्मा की आनन्दकला को ही अपने काव्यलक्षण में द्विवेदी जी ने आनन्दकोष कहा है। उसको उद्बोधन ही उल्लास है। उसी को जगाना तो कविता का मुख उद्देश्य है। कविता लोकोततर चमत्कारकारी साधनों द्वारा सहृदय के भीतर आनन्दकोष का उल्लास करती है। इसी से

©Indira Gandhi National Open University

उत्पन्न होने वाला ज्ञान या विमर्श ही संवित्ति है और वह अलंकृत अर्थ से समन्वित रहता है। अब यहाँ अलंकृत अर्थ आते ही काव्यशास्त्र के सभी तत्वों की उपस्थिति हो गयी । तब आचार्य के मत में ऐसी कविता सर्वमंगला कहलाती है। पार्वती जी को अमरकोष में सर्वमंगला कहा गया है। वैदिक और लौकिक दोनों अर्थों की मंगला भी सर्वमंगला है। सम्पूर्ण विचार एवं विशेष तात्विक मान्यताओं सवे सम्पन्न होते हुए आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने काव्य का स्वरूप लक्षण प्रतिपादित किया है-

विकल्प: सुन्दर: काव्यमिति काव्यस्य लक्षणम्

सर्वसहं भवतयत्र प्रमाणं श्रीपंतञ्जलि: । [14] काव्यालं.31

सुन्दरो विकल्प: काव्यम् । अर्थात् सुन्दर विकल्प काव्य होता है।

काव्यलक्षण में तीन परम्पराएं पायी जाती हैं-

1. शब्दार्थोभयकाण्यतावादी – भामह आदि
2. घ्वनिवादियों की अर्थैककाव्यता का मत
3. शब्देककाव्यतावादी मत ।

जैसे- पण्डितराज जगन्नाथ आदि। इन तीनों लक्षण मार्गों से ओतप्रोत एवं भिन्न काव्यलक्षण का महत्तम स्वरूप आचार्य द्विवेदी ने संस्कृत काव्यशास्त्र को दिया है। शब्दार्थ शरीर और रमणीयता पर तो पूर्व के आलंकारिकों ने विचार किया ही था, किन्तु अलंकृतार्थ संवित्ति और सर्वमंगला शब्द से कोई संकल्पना सम्भवत: नही दी। अत: रेवाप्रसाद प्रणीत काव्यलक्षण अत्यन्त विशिष्ट है। तार्किक प्रयास हे आचार्य का।

काव्य के हेतुओं के विषय में भी साहित्यशास्त्र के मौलिक आकर ग्रन्थों से प्रारम्भ करके पण्डितराज के कालखण्ड तक कविता के कारणों पर विचार करते हुए, लक्षण प्रतिपादित करते हुए आचार्य देखे गये। काव्यालंकारकारिका में आचार्य रेखाप्रसाद ने प्रतिभैकारणता को ही स्वीकार किया। प्रतिभा ही काव्य का कारण है। अर्थ का अवभासन प्रतिभा है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार मेघमाला के भीतर बिजली की चमक होती है। मेघमाला प्रज्ञा है। आचार्य कहते हैं-

कारणं प्रतिभा काव्ये सा चार्थ प्रतिभासनम् ।

प्रज्ञा कादम्बिनी गर्भे विद्युदुद्योत सुन्दरम् ।। [15] काव्याक. 2

प्रज्ञा ही कादम्बिनी है अर्थात् मेघमाला। विद्युत का चमकना ही अर्थ का प्रतिभासन है। पण्डितराज जगन्नाथ को लक्षित करके आचार्य ने प्रतिभा के निम्नलिखित प्रकार बताये हैं-

1. स्वभावोपपादिता : - निसर्ग, जाग जाना,
2. चरणोपपादिता – तपश्चरण, जैसे तपश्चर्या द्वारा प्राप्त शक्ति से बातों को जान जाना ।
3. अभ्यासापपनादिता ।
4. योगोपपादिता ।
5. अदृष्टोपपादिता
6. विशिष्टोपिहता – विशिष्ट अवसर पर विशिष्ट व्यक्ति के द्वारा प्राप्त विशिष्ट शक्ति ।

©Indira Gandhi National Open University

जैसे- दिव्यदृष्टि आदि । प्रतिभाज्ञानैकरूप है। काव्य ही प्रतिभा का बाह्य प्रकाशन है।

यथा- **प्रतिभा ज्ञानैकरूपं हि वाह्यत्वं तत्र न क्षमम् । प्रतिभा ज्ञानरूपा यत् काव्यत्वेन प्रकाशते** ।।

काव्य प्रयोजन के प्रतिपादन में भी आचार्य रेवाप्रसाद की प्रतिभा निखरती हुयी प्रतीत हो रही है1 आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि- काव्य के निर्माण के लिए कवि की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। वह किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए काव्यकर्म नहीं करता। जैसे – प्रभातबेला में पक्षियों के कलरव का क्या प्रयोजन ? वाल्मीकि एषणा रहित थे। आचार्य द्विवेदी ने कुछ नये प्रयोजनों को बताते हुए कहा है लोक कल्याण और उसकी उन्नति ही प्रयोजन है। इनके अनुसार निम्नलिखित प्रयोजन है-

1.युग के आवश्यकता की पूर्ति भी काव्य का प्रयोजन है-

युगावश्यकतापूर्ति – मन्त्र – व्यक्तिरपि क्वचित ।

प्रयोजनं, रघुव्यक्तौ रघुवंशे यथा कवे:।। [16] काव्यालं. 13 ।।

इस परिभाषा में आचार्य का मानना है कि कविता के निर्माण में उस मन्त्र की अभिव्यक्ति ही प्रमुख प्रयोजन है । जिसकी उपस्थिति में युग के आवश्यकता की पूर्ति हो सके। उदाहरण दिया है कि रघुवंश महाकाव्य में रघु की अभिव्यक्ति राष्ट्र की रक्षा के लिए आवश्यक थी । आगे धर्म रक्षा को कविता का प्रयोजन मानते हुए कहते हैं।

2. धर्मरक्षा काव्य का अन्यतम प्रयोजन है-

अधर्मोत्थानवेलायां धर्मरक्षापि दृश्यत।

काव्यार्थस्तुलसीकाव्ये यथा यवन- शासने ।। [17] काव्यालं. 14 ।।

जब अर्धम बढ रहा हो तो समाज की रक्षा के लिए काव्य की रचना होनी चाहिए । जैसे- तुलसीदासकृत रामचरितमानस ।

1. रेवाप्रसादद्विवेदी के मत राष्ट्र एक देवता है। राष्ट्रदेव का प्रबोधन काव्य निर्माण का प्रयोजन है-
राष्टदेवप्रबोधोऽपि विश्वदैवतसाक्षिक: ।
काव्यप्रयोजनं पुंभ्य: पुमर्थाश्चतुरो दुहन् ।।

इदंप्रयोजने नाट्याचार्यस्य भरतस्य न: ।

वेदशास्त्रे प्रयोगाश्च तदाश्रित्य प्रवर्त्तिता: ।। [18] काव्यालं. 14-15 ।।

भरतमुनि ने इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए नाट्यशास्त्र की रचना की आचार्य द्विवेदी के अनुसार काव्य के निर्माण का कोई प्रयोजन व्यक्तिगत रूप से कवि का नहीं होता माता के समान सामाजिकों की रक्षक होती है कविता । कविता अपने अध्येता के लिए सभी प्रकार के कलयाणकारी साधनों को उपलब्ध कराती है। द्विवेदी जी का मत है कि – **काव्यमपि रसिकत्वमात्रं पश्यति, न वर्णभेदान् न वा वर्गभेदान् परिस्रवति च पुरूषार्थपीयूषसारं निरर्गलधारम् ।**

©Indira Gandhi National Open University

इस प्रकार प्रतीत होता है कि - कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति का सिद्धान्त यहाँ पर लागू होता है। अर्थात् कविता बिना किसी बाधा के वर्ग तथा वर्ण के भेद की अनदेखी करते हुए अमृत की धारा सभी के ऊपर समान रूप से बरसाती है। कविता रूपी माता को कुमाता नहीं कहा जा सकता है। भले ही उसका अध्येता कुपुत्र की भाँति हो जाय।

निष्कर्ष : आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने काव्यशास्त्र की परम्परा को एक धारा प्रदान किया है। आप जैसे विलक्षण आचार्य के न रहने पर साहित्यशास्त्र आपको सर्वदा ढूँढता रहेगा। काव्यलक्षण की परम्परा में आपकी प्रतिभा अग्रगामी है। काव्य के कारणों पर पूरी परम्परा का समादर करते हुए आपने प्रतिभा को छः भेदों के साथ परिभाषित करते हुए मुख्य रूप से कविता के निर्माण में प्रतिभा को ही कारण माना। प्रयोजन की दृष्टि आपकी अद्भूत है। युग की आवश्यकता, धर्मरक्षा और राष्ट्र देवता के प्रबोधन को काव्य का प्रयोजन मानते हुए आपने सम्पूर्ण समाज को एक रूचिकर मार्ग दिखाते हुए अपने मत की स्थापना किया है। इस प्रकार यदि यह कहा जाए कि संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों की परम्परा में रेवा प्रसाद जी का अभूतपर्व योगदान है तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

सन्दर्भ :

1. अमरकोश
2. अलं ब्रह्म, पृष्ठ 1 प्रकाशक: चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी ।
3. काव्यालङ्कारकारिका.28
4. काव्यालङ्कारकारिका.29
5. काव्यालङ्कारकारिका. 31-32
6. काव्यालङ्कारकारिका. 42
7. काव्यालङ्कारकारिका.25
8. काव्यालङ्कारकारिका.124
9. काव्यालङ्कारकारिका.125
10. अग्निपुराण 339. 1
11. नमः स्वस्ति – स्वाहा-स्वधाऽ लं-वषड्योगाच्च। अलम् इति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलम् , प्रभु : समर्थः इत्यादि। (अष्टाध्यायी 2.3.26)
12. काव्यालङ्कारकारिका 10- 12 ।।
13. काव्यालङ्कारकारिका 1
14. काव्यालङ्कारकारिका 31
15. काव्यालङ्कारकारिका 2
16. काव्यालङ्कारकारिका 13
17. काव्यालङ्कारकारिका 14
18. काव्यालङ्कारकारिका 14 – 15

©Indira Gandhi National Open University

वेदोपदिष्टमन्तरिक्षविज्ञानम्

अमितकुमारः साउ
विद्यावारिधिशोधकः
रामकृष्णमिशन्-विवेकानन्द-शैक्षणिक-शोधसंस्थानम्, हावाडा
Email : sahoorkmvu@gmail.com

शोधसारः - अखिलविश्वप्रपञ्चस्य प्राचीनेषु वाङ्मयेषु विशिष्टस्थानं भजते वेदः। भारतीयार्षपरम्परायाम् ऋषीणां योगदानम् अत्यद्भुतम्। ते च साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयः ऋतम्भरया प्रज्ञया अन्तःकरणे सृष्टिविषयकस्य ज्ञानविज्ञानस्य उपलम्भेन महतः ज्ञानराशेः आविष्कारं चक्रुः। तस्यैव ज्ञानस्याभिव्यक्तिः वेदरूपेण बभूव। अस्मिन् प्रबन्धे वयम् अन्तरिक्षविज्ञानविषये चर्चयिष्यामः। प्रकृते अस्माकमभिप्राय ऋषिभिः अन्तरिक्षविषयकवैज्ञानिकचिन्तनेन सार्धं विद्यते। वेदेषु अन्तरिक्षविषये ये विचाराः उपस्थापिताः किं ते ऋषिकल्पनात्मिका उत विज्ञानतत्त्वोपेताः ? इति चेत् यद्यपि तत्रत्याः विचाराः बाह्यतः कथात्मिकाः दृश्यन्ते परन्तु अन्ततो गभीराध्ययनेन ज्ञायते ते तत्त्वोपेता एव इति। वेदेषु ब्रह्माण्डस्य निर्मातारः शक्तयः तत्वानि वा देवनाम्ना आख्यतानि। सामान्यतः एतानि तत्त्वानि सर्वेषु लोकेषु व्याप्तानि, परन्तु विशेषरूपेण केषुचित् लोकेष्वेव मुख्यतां दरीदृश्यते। वस्तुतः पृथिवीद्यावान्तरिक्षाख्याः त्रय एव लोका मुख्यतां भजन्ते। अतो भगवान् यास्कः पृथिवी-द्यौ-अन्तरिक्षमित्येतान् त्रीन् लोकानाश्रित्य त्रिषु स्थलेषु देवतानां स्थानं निर्दिदेश। संहितासु विद्यमानेषु मन्त्रेषु यस्य संकेतः प्राप्यते तस्य विश्लेषणं ब्राह्मणग्रन्थेषु प्राप्नुमः। अन्तरिक्षस्थानीय देवानां विवेचनेन अन्तरिक्षविज्ञानविषयकानां नाना शाखानामपि ज्ञानं प्राप्तुम् अर्हामः। अस्यां दिशि वैज्ञानिकाध्ययनस्य आवश्यकता विद्यते। अन्तरिक्षविज्ञानान्तर्भूतस्य दिग्विज्ञानस्य, जलविज्ञानस्य, गतिविज्ञानस्य, विद्युद्विज्ञानस्य, रसविज्ञानस्य, वायुविज्ञानस्य च महत्वं सर्वान् अतिशेते।

****

कूटशब्दाः – वेदः, पृथिवी, द्यौः, अन्तरिक्षम्, दिग्विज्ञानम्, जलविज्ञानम्, विद्युद्विज्ञानम्, अम्बरम्, पुष्करम्, अध्वरम्।

****

वेदेषु भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यञ्चेति सप्त लोकाः उपदिष्टाः। एतेषां सप्तव्याहृतिरित्यप्यभिधानं विद्यते लोके। एतेषु आदितः तिस्रः व्याहृतयः त्रिलोकनाम्ना जगति प्रसिद्धाः सन्ति। तैत्तरीयोपनिषदि महाख्या चतुर्थी व्याहृतिः दृश्यते। महाचमसाख्यस्य आचार्यस्य नाम्ना तस्य सत्ता स्वीकृता।[1] ऋग्वेदे तु महाख्येन पृथक् लोकस्य व्याहृतेर्वा नाम न प्राप्यते। तस्मिन् भुर्भुवसुवं विहाय नाकविष्टबाख्ययोः द्वयोः लोकयोः नाम प्राप्यते। ऋग्वेदे नाकशब्दस्य द्वात्रिंशद्वारं विष्टप्-शब्दस्य च द्वादशवारं उल्लेखः सम्प्राप्यते। नाकविष्टबौ पृथक् लोकौ उत स्वर्गवाचकौ इत्यस्मिन् विषये साम्प्रतमपि विवदन्ते विद्वांसः। क्वचित् नाकलोकस्यैव पर्यायवाचित्वेन स्वर्गलोकस्य प्रयोगः प्राप्यते क्वचिच्च नाकलोकस्योपरि स्वर्गलोक इत्यख्यात् द्वयोः पृथक् सत्तां निश्चीयते विद्वद्भिः।[2]जौमिनीयब्राह्मणे नाकस्वर्गविष्टबानां ऐक्यं प्रतिपादितम्। परन्तु तैत्तरीयसंहितायां नाकस्य द्युलोकेन सह तादात्म्यमुक्तम्. द्युलोकस्योपरि नाकलोक इत्युपदिष्टम्। तदुक्तम् –

“पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारूहमन्तरिक्षाद् दिवमारूहम्।

---

[1] भुर्भुवः सुव इति वा एतास्तिस्रः व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते मह इति। तैत्तरीयोपनिषद्. १/५/१

[2] सो (प्रजापतिः)ऽब्रवीन्न वै म इदमकमभूदिति। यदब्रवीन् न वै म इदमकमभूदिति तन्नाकस्य नाकत्वम्। स एष वाव नाको यद् दशममहरेष स्वर्गो लोक एतद् ब्रन्धस्य विष्टपम्। जैमिनीयब्राह्मणम्. ३/३८५

©Indira Gandhi National Open University

दिवो नाकस्य पृष्ठात् सुवज्योतिरगाममहम्”॥[3]

अस्यैव मन्त्रस्य व्यख्यानावसरे सायणाचार्यः दिवः नाकस्य चेत्यनयोः पदयोः सामानाधिकरण्यं प्रतिपाद्य नाकः द्युलोकस्य विशेषणमित्युवाच। सायणाचार्यस्य नये नाको नाम द्युलोकसम्बन्धी तत्स्थानं यस्मिन् दःखस्य लेशोऽपि नास्ति।[4] अन्तरिक्षं पृथिवीद्युलोकयोः मध्ये विराजते, अत्र सन्देहस्य अवकाश एव नास्ति। अन्तरिक्षस्य यन्निर्वचनं वैदिकसंहितासु प्राप्यते तेन तस्य पृथिवीद्युलोकयोः मध्ये स्थितिस्सिध्यति। शतपथब्राह्मणे उक्तं पुरा पृथिवी द्यौश्च पृथगास्ताम्। द्वयोः पृथग्भूतत्वात् तयोः मध्ये स्थितस्य आकाशस्यैव अन्तरिक्ष इत्याख्यानम्। तयोः विच्छेदस्य पूर्व अकाशास्य “ईक्षः” इति संज्ञा आसीत्, यदा पृथिवीदिवौ भिन्तः तदा आकाशस्य मध्ये विद्यमानत्वाद् “अन्तरिक्षम्” इति संज्ञा सम्पन्ना। अतः उक्तम् – सह हैवेमावग्रे लोकावासतुस्तयोर्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत्तदन्तरिक्षमभवदीक्षं हैतन्नाम ततः पुराऽन्तरा वा इदमीक्षमभूदिति तस्मादन्तरिक्षम्।[5] अन्तरिक्षेणैव पृथिवीदिवौ विभक्तौ।[6] द्वयोः मध्ये स्थितत्वात् तस्य अन्तरिक्ष इति संज्ञा। अतः ताण्ड्यब्राह्मणे अस्य मध्यलोकः इति संज्ञा।[7] मैत्रायणीसंहिता अन्तरिक्षं द्विधा व्यभजत्। अन्तरिक्षस्य एकस्य भागस्य पृथिव्या सह अपरस्य च द्युलोकेन सह संयोगो विद्यते। तदुक्तम् – “अर्द्धं ह्यन्तरिक्षस्यास्मिल्लोकेऽर्धममुष्मिन् लोके (द्युलोके)”।[8] अनेनेदं स्पष्टं यावत् पृथिव्याः मध्याकर्षणं तावत् अन्तरिक्षस्य अधोभागः पृथिवीगुणविशिष्टात् पृथिव्या अंशः अन्तरिक्षस्य उपरितनभागः द्युगुणात्मत्वाद्द्युलोकस्यांशः। इमामेव युक्तिम् “इयं (पृथिवी) अन्तरिक्षम्”[9] इत्यदिना दृढीकरोति ऐतरेयब्राह्मणम्। निघण्टावपि अन्तरिक्षवाचकेषु शब्देषु पृथिव्या अपि अभिधानं कृतम्।[10] पृथिवीदिवोः सम्बन्धकर्ता अन्तरिक्षमिति सालङ्कारवाक्यैः प्रतिपादिते ताण्ड्यब्राह्मणे प्रोक्तम् उधस्स्वरूपविशिष्टान्तरिक्षस्य पृथीवीद्यावाख्यौ द्वौ पयोधरौ पृथिव्याख्येन पयोधरेण देवताभ्यो रसं प्रददाति अपरेण द्युविशिष्टेन पयोधरेण पृथिव्यां राजमानेभ्यः सर्वेभ्यः प्राणिभ्यो रसं प्रयच्छति।[11] अर्थाद् द्युलोकात् पृथिव्यां प्राणिभ्यः रसप्रदानस्य तथा पृथिव्याः देवताभ्यः रसप्रदानस्य कार्यं करोति अन्तरिक्षम्।

वेदेषु ब्रह्माण्डस्य निर्मातारः शक्तयः तत्वानि वा देवनाम्ना आख्यतानि। सामान्यतः एतानि तत्त्वानि सर्वेषु लोकेषु व्याप्तानि, परन्तु विशेषरूपेण केषुचित् लोकेष्वेव मुख्यतां दरीदृश्यते। वस्तुतः पृथिवीद्यावान्तरिक्षाख्याः त्रय एव लोका मुख्यतां भजन्ते। अतो भगवान् यास्कः पृथिवी-द्यौ-अन्तरिक्षमित्येतान् त्रीन् लोकानाश्रित्य त्रिषु स्थलेषु देवतानां स्थानं निर्दिदेश। अर्थात् पृथिवीस्थानीयदेवता, द्यौस्थानीयदेवता, अन्तरिक्षस्थानीयदेवताश्च। पृथिवीस्थानीयासु देवतासु अग्निः, अन्तरीक्षीयदेवतासु इन्द्रो वायुर्वा, द्युस्थानीयदेवतासु च सूर्यः प्रामुख्यं भजते। उक्तं च निरुक्ते - “तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो वायुरिन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः”।[12] आचार्ययास्कानुसारं वस्तुतः एताः तिस्रः

---

[3] तैत्तरीयसंहिता – ४/६/५/२

[4] दिवः द्युलोकसम्बन्धी नाकः दुःखरहितो यः प्रदेशस्तस्य पृष्ठात् उपरिष्टात्। तैत्तरीयसंहितायाः सायणभाष्यम् – ४/६/५/२

[5] शतपथब्राह्मणम् – ७/१/२/२३

[6] अन्तरीक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे। शतपथब्राह्मणम् – १/२/१/१६

[7] अयं मध्यमो (लोकः – अन्तरिक्षम्) बृहती – ताण्ड्यब्राह्मणम् – ३/८/९

[8] मैत्रायणीसंहिता – ३/८/९

[9] ऐतरेयब्राह्मणम् – ३/३१

[10] निघन्टुः – १/३/९

[11] ऊधर्वा अन्तरिक्षं स्तनावधितोऽनेन पृथिवीरूपेण स्तनेन वा एष देवेभ्यो दुग्धेऽमुना प्रजाभ्यः। ताण्डब्राह्मणम् – २४/१/६

[12] निरुक्तम् – ७/५

©Indira Gandhi National Open University

एव देवताः अन्ये तु एतेषां नामान्तरमात्रम्। अत उक्तम् - "तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति"।[13] विज्ञानदृष्ट्या एतेषु त्रिष्वपि देवतत्त्वेषु एकरूपता विद्यते। एतेषु अग्निः मुख्यः तस्यैव भास्वरस्वरूपो वायुः तेजोरूपश्च विवस्वान्। कस्यचिदपि रूपस्य निर्माणमग्नेः कर्म।[14] रसस्य संसरणं वलविषयकं वा यत्किमपि तत्सर्वं इन्द्रस्यैव कार्यं भवति।[15] रश्मिभिः पृथिव्याः रसादानम् आकाशे तस्य धारणं तथा च सर्वस्य पोषणकर्म करोति भास्वान्।[16] निघण्टौ पृथिवीद्यौस्थानीयदेवतापेक्षया अन्तरिक्षीयदेवानां संख्याऽनेका वर्तन्ते। तत्र द्विपञ्चाशत् पृथिवीस्थानीयदेवताः, द्वात्रिंशद्द्युस्थानीयाः षट्षष्टिः अन्तरिक्षस्थानीयाश्च देवता उपदिष्टाः। तासां अन्तरिक्षस्थानीयदेवतानां सूची अधः प्रदीयते –

१. वायुः, २. वरुणः, ३. रुद्रः, ४. इन्द्रः, ५. पर्जन्यः, ६. बृहस्पतिः, ७. ब्रह्मणस्पतिः, ८. क्षेत्रस्य पतिः, ९. वास्तोष्पतिः, १०. वाचस्पतिः, ११. अपांनपात्, १२. यमः, १३. मित्रः, १४. कः, १५. सरस्वान्, १६. विश्वकर्मा, १७. तार्क्ष्यः, १८. मन्युः, १९. दधिक्राः, २०. सविता, २१. त्वष्टा, २२. वातः, २३. अग्निः, २४. वेनः, २५. असुनीतिः, २६. ऋतः, २७. इन्दुः, २८. प्रजापतिः, २९. अहिः, ३०. अहिर्बुध्न्यः, ३१. सुपर्णः, ३२. पुरुरवाः। इति द्वात्रिंशत्पदानि।

१. श्येनः, २. सोमः, ३. चन्द्रमाः, ४. मृत्युः, ५. विश्वानरः, ६. धाता, ७. विधाता, ८. मरुतः, ९. रुद्राः, १०. ऋभवः, ११. अङ्गिरसः, १२. पितरः, १३. अथर्वाणः, १४. भृगवः, १५. आस्याः, १६. अदितिः, १७. सरमा, १८. सरस्वती, १९. वाक्, २०. अनुमतिः, २१. राका, २२. इन्द्राणी, २८. गौरी, २९. गौः, ३०. धेनुः, ३१. अध्या, ३२. पथ्या, ३३. स्वस्तिः, ३४. उषाः, ३५. इळा, ३६. रोदसी। इति षट्-त्रिंशत्पदानि।

एतेषां देवानां नामानि अन्तरिक्षवर्गे उपदिष्टत्वादनुमीयते एतेषां कार्यस्थलानि प्रामुख्येन अन्तरिक्षे एव। अन्तरीक्षियस्थानीयेषु देवेषु अग्नेः नाम पृथिवीगणेऽपि (५.१.१) प्राप्यते, तथा च विश्वानरः (५.५.५) सविता (५.४.२०) उषाः (५.५.३४), त्वष्टा, (५.४.२१), वरुणः (५.४.२) यमः (५.४.१२) चेत्येतेषां नाम द्युस्थानीयदेवगणे प्राप्यते। सूक्ष्मवायूपेतो मरुदन्तरिक्षस्य परितः व्याप्यत्वात् तस्य वरुण इति संज्ञा। अन्तरिक्षस्थानीयविद्युतः अग्निः जायते अतो विद्युदग्निरेव। परन्तु द्वयोः भेदं यास्काचार्यः सयुक्तिकं प्रतिपादयामास। "वैश्वानरः" इति शब्दस्य निर्वचनकाले यास्काचार्यः शाकपुण्याख्यस्य आचार्यस्य नाम उदधरत्। शाकपुण्याचार्यस्य मतानुगणं पार्थिवस्य अग्नेर्नाम "वैश्वानर" इति, तथा च मध्यस्थानीयविद्युदग्निः, द्युस्थानीयश्च सूर्याग्निः "वैश्वानरः" इत्याख्यः।[17] यदा विद्युदग्निः स्वाश्रयभूतं मेघं अभिहन्ति यदा स्वमूलरूपे परिणम्यते, तदा केनचित्पार्थिवपदार्थेन साकं तस्य ग्रहणं न भवति। तदैव तस्य नाम भवति मध्यमस्थानीयो अर्थादन्तरिक्षस्थानीयो विद्युदग्निरिति। तदा तस्य इन्धनं भवति उदक्, उपशमकश्च दारु। यदा स पार्थिवेन वस्तुना सह संयुङ्क्ते तदा स अग्निरूपं धरति। तस्यां स्थितौ काष्ठं तस्य इन्धनं भवति वारि च उपशमकम्।[18]

सवितुः अन्तरिक्षे द्यवि च उभयत्र परिगणनं सम्प्राप्यते। "सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात्"[19] इति मन्त्रस्य व्याख्याने यास्कः सवितारं अन्तरीक्षस्थानीयत्वेन व्यख्यात्। अयं सविता शक्तिधरो विद्युन्मयो वायुः, यः आधाररहिते समुद्राख्ये

---

[13] निरुक्तम् – ७/५

[14] यच्च किञ्चिद् दाष्ट्रिविषयिकमग्निधर्मैव तत्। निरुक्तम् – ७/८

[15] अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्। निरुक्तम् – ७/१०

[16] अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणं यच्च किञ्चित् प्रवह्लितमादित्यकर्मैव तत्। निरुक्तम् – ७/११

[17] अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः। विश्वानरावेते उत्तरे ज्योतिषी। वैश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां जायते। निरुक्तम् – ७/२३

[18] कथं न्वयमेताभ्यां जायते इति। यत्र वैद्युतः शरणभिहन्ति यावदनुपातो भवति मध्यमधर्मैव तावद् भवत्युदकेन्धनः शरीरोपशमन एवायं सम्पद्यत उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः। निरुक्तम् – ७/२३

[19] सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भेन सविता द्यामदृंहत्।

©Indira Gandhi National Open University

अन्तरिक्षे पृथिवीं स्वशक्त्या दृढतापूर्वं धारयति। भगवान् यास्कः – "सविता यन्त्रैः पृथिवीमरमयदनारम्भणेऽन्तरिक्षे। सविता द्यामदृंहदश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षे मेघं बद्धमतूर्ते बद्धमतूर्ण इति वात्वरमाण इति वा, सविता समुदितारमिति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्।"[20] इति ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्य ऊनपञ्चाशदधिकैकशतमे सूक्ते स्वभाष्ये सवितारं पृथिवीस्थानीयदेवत्वेन व्याख्यातवान्। निघण्टौ – अम्बरं, वियत्, व्योम, बर्हि, धन्व, अन्तरिक्षम्, आकाशम्, आपः, पृथिवी, भूः, स्वयम्भूः, अध्वा, पुष्करं, सगरः, समुद्रः, अध्वरम् इति षोडश अन्तरिक्षनामान्युपदिष्टानि।[21] अन्तरिक्षस्य एतानि नामानि तस्य नाना धर्मान् उपदिशति। तैः नामभिः वयं तस्य गुणान् ज्ञास्यामः –

अम्बरम् – अबि – शब्दे तथा रा- गतौ इत्यनयोः धातोः कप्रत्यये अम्बरशब्दः निष्पद्यते। शब्दजनकत्वात् अन्तरिक्षस्य अम्बरिमित्याख्यानम्। शब्दः आकाशस्य गुणः, यत्र शब्दो भवति तत्र आकाशस्य सत्ता भवति। आकाशं विना शब्दो नोत्पद्यते। ऋग्वेदे अम्बरशब्दः सकृत्प्रयुक्तः।[22] अनेन वयं शब्दविज्ञानस्य ज्ञानं प्राप्नुमः। न

वियत् – वियच्छति विरमतीत्यर्थात्मकात् विपूर्वकात् यम-उपरमे इत्यस्माद्धातोः "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते"[23] इत्यनेन क्विपि प्रक्रियाकार्ये वियदितिरूपं सिध्यति। सृष्टिधारकाणां सर्वेषां तत्त्वानां विशेषरूपेण नियन्त्रणादन्तरिक्षस्य वियदिति संज्ञा।

व्योम – विपूर्वकात् अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गन-हिंसादानभागवृद्धिषु इत्यस्माद्धातोः औणादिके मनिन्प्रत्यये प्रक्रियायां व्योमेति रूपं सिध्यति। अस्यार्थस्तावत् व्यवति व्याप्नोति सर्वं जगदिति व्योम। अर्थात् पृथिव्या उपरि आवरणत्वेन भूत्वा सर्वं जगत् रक्षति। आचार्यः यास्कः व्योम इत्यस्य व्यवनार्थमपि स्व्यकार्षीत्।[24] व्योम नाम पृथिव्या उपरि अन्तरिक्षम् परमव्योम च द्युलोकस्योपरि सर्वोच्चलोकः।

बर्हिः – बृंह बृद्धौ शब्दे च इत्यस्माद्धातोः बर्हिशब्दो निष्पद्यते। परितो व्याप्यत्वात् अन्तरिक्षस्य बर्हिः इति संज्ञा। बर्हिशब्दः अन्तरिक्षस्य व्यासं द्योतयति। ।

धन्व – धवि-गतौ धातोः कनिन्प्रत्यये धन्वशब्दः जायते। अन्तरिक्षस्य मेघस्थं जलं अधः स्रवति, अतः अन्तरिक्षस्य धन्व इति संज्ञा।

अन्तरिक्षम् – ऋग्वेदे षोडशवारं अन्तरिक्षशब्दस्य स्वतन्त्ररूपेण प्रोयगं प्राप्नुमः। वारचतुष्टयं समस्तपदेषु, वारद्वयं च तद्धितप्रयोगयोः अन्तः प्राप्तमस्माभिः।[25] सर्वत्र अन्तरिक्षशब्दो लोकस्य वाचकः। अयं शब्दः पृथिवीदिवोः मध्ये स्थितत्वं सूचयति।

आकाशः – ऋग्वेदे कुत्रापि आकाशशब्दस्य प्रयोगः न प्राप्यते। पृथिवीद्युलोकयोर्मध्ये अवकाशत्वात् तस्य आकाश इति अभिधानम् एवं शतपथब्राह्मणे प्रतिपादितम्।

अश्वमिवा

[20] निरुक्तम्- ७/२३

[21] निघण्टुः – १/३/१ - १६

[22] यन्नासत्या परावति यद्वा स्थोऽध्यम्बरे।

अतः सहस्रनिर्णिजा रथेना यातमश्विना॥ ऋग्वेदः – ८/८/१४

[23] अष्टाध्यायी – ३/२/१७८

[24] परमे व्यवने। निरुक्तम् – ११/४०

ऋचश्च परमे व्यवने धीयन्ते। निरुक्तम् – १३/११

[25] ऋग्वेदपदानुक्रमसूची द्रष्टव्या।

©Indira Gandhi National Open University

आपः – आप्लृ व्याप्तौ इत्येतस्माद्धातोः असुन्प्रत्यये आप इति रूपं सिध्यति। अन्तरिक्षवाचकेषु पदेषु मध्ये स्थितत्वाद् आपः अन्तरिक्षस्थस्य जलस्य द्योतकः। आपो नाम जलं, सर्वव्यापकेन जलेन सह सम्बन्धत्वात् अन्तरिक्षस्यापि आप इति संज्ञा। अन्तरिक्षं सर्वान् व्याप्य तिष्ठति अतः अन्तरिक्षस्य आप इत्याख्यानम्। अस्माद् जलविज्ञानस्य ज्ञानं लभ्यते।

पृथिवी – अन्तरिक्षवाचकेषु पठितेषु शब्देषु पृथिवीपदं तस्य पृथुतां द्योतयति। अन्तरिक्षाय भूयशः प्रयुक्तः "उरु"- शब्दः तस्य पृथुतायाः उरुत्वस्य वा द्योतकः। अन्तरिक्षस्य अर्धभागस्य पृथिव्या सह सम्बन्धो वर्तते, अतः मैत्रायणीसंहितानुसारमन्तरिक्षस्यापि पृथिवीत्वं वर्तते।[26] अन्तरिक्षस्य पृथिवीत्वं द्योतयता निरुक्तकर्त्रा गदितम् - "प्रथनात् पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथयिष्यत् किमाधारश्चेत्यथ वै दर्शनेन पृथुरप्रथिता चेदप्यन्यैः"[27]।

भूः – भू-सत्तायामित्यस्माद्धातोः भवत्यस्मादिति व्युत्पत्या निष्पन्नो भूः शब्दः अन्तरिक्षस्यापि वाचकः। इन्द्रेण मेघस्य कर्तनात् अन्तरिक्षाद्वारि वर्षति। अतः अन्तरिक्षस्य भूरिति संज्ञा।

स्वयम्भूः – स्वयं भूतत्वादन्तरिक्षस्य स्वयम्भूरिति नाम।

अध्वा – ऋग्वेदे अध्वापदस्य द्वादशवारं प्रयोगः सम्प्राप्यते। अखिलस्य नक्षत्रमण्डलस्य विचरणमार्गत्वात् अन्तरिक्षस्य "अध्वन्" इति आख्यानम्।

पुष्करम्- ऋग्वेदे पुष्करशब्दस्य प्रयोगः त्रिः प्राप्यते। पुष्करिणीशब्दस्य च द्विः प्राप्यते। पुष पोषणे पुज पुजायाम् इत्यनयोः धातोः पुष्करशब्दं निर्वाचयाम्बभूव यास्कवर्यः। अत्यावश्यकजलप्रदानेन पृथिवीस्थान् प्राणिनः पोषति अन्तरिक्षमित्यतः तस्य "पुष्करम्" इति नाम। वृष्टिप्रदायकत्वात् सर्वैः पूज्यते अतः तत् "पुष्करम्"।[28] अस्य शब्दस्य निर्वचनविषये शतपथब्राह्मणे एकमाख्यानं प्राप्यते। इन्द्रः वृत्रस्य हननानन्तरमपि अचिन्तयत् यदहं बृत्रं हन्तुमक्षमोऽस्मि। अतः भीतः सन् स जलं प्राविशत्। तत्र स्थितः सन् आदिशत् अहं भीतोऽस्मि मम कृते पुरं निर्मातु। ततः तत्र पुरस्य निर्माणमभवत्। अतः पूः कृ-धातोश्च आधारेण पुष्करशब्दो निष्पन्नः। अनेन निर्वचनेन स्पष्टं जलस्य सूक्ष्मं रूपं अन्तरिक्षे व्याप्तम्। तस्मिन्नेव विद्युद्रूप इन्द्रो राजते। अन्तरिक्षमेव पुष्करं यस्मिन् सर्वे रसाः तत्र परिपूर्णाः तदेव विद्युतोऽपि संरक्षकः। सर्वेषां रसानाम् आश्रयभूतत्वाद् अन्तरिक्षं सरोवरवद्भवति। तस्य जलं न कदापि शुष्यति। अन्तरिक्षस्य सादृश्येन पार्थिवस्य सरोवरस्यापि पुष्करेत्याख्यानम्।

सगरः – गरेण सह वर्तमानः सगरः। ऋग्वेदे सगरशब्दस्य सकृत्प्रयोगं लभामहे।[29] अन्तरिक्षात्प्रवहमानेन जलेन साकं सगरः उपमीयते। अतः सगराख्यादन्तरिक्षात् प्रवहमानस्य जलभाण्डारस्य "सागरः" इति नाम। ततः अनन्तर्धानेन प्रवहमानत्वात् अन्तरिक्षस्य सगरत्वम्। तत्र एतावत् जलं वर्तते यत् कदापि न शुष्यति।

समुद्रः – पार्थिवस्य अन्तरिक्षस्य च उभयोः कृते समुद्रपदस्य प्रयोगः प्राप्यते वेदे। समुद्रस्य उभयात्मकत्वात् यास्कमुनिः द्वौ समानरूपेण निर्वाचयामास। परन्तु द्वयोः कृते उपपत्तयः भिन्ना वर्तन्ते। पञ्चधा समुद्रपदस्य निर्वचनं सम्प्राप्यते[30] -

---

[26] मैत्रायणीसंहिता – ३/८/९

[27] निरुक्तम् – १/१४

[28] पुष्करमन्तरिक्षं पोषति भूतान्युदकम्। पुष्करं पूजकरं पूजयितव्यं वा। इदमपीतरत् पुष्करमेतस्मादेव। पुष्करं वपुष्करं वा। निरुक्तम् – ५/१४

[29] इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात्। ऋग्वेद – १०/८९/४

©Indira Gandhi National Open University

१. समुद्ध्याम्पूर्वस्य द्रु गतौ धातोः (समुद्रवन्त्यस्मादापः) समुद्रशब्दः निष्पन्नः। यतः अन्रिक्षस्थो मेघो विद्युता विछिन्नः सन् जलं स्रावयति अतोऽन्तरिक्षस्य समुद्रसंज्ञा। पार्थिवसमुद्राच्च जलं वाष्पो भूत्वा उपरि गच्छति अतः पार्थिवस्यापि समुद्रसंज्ञा।

२. समभिभ्यामुत्तरस्य द्रु गतौ धातोः (समभिद्रवन्त्यस्मादापः) प्रक्रियया समुद्रशब्दः सिद्धः। पार्थिवसमुद्राज्जलं वाष्पो भूत्वा उपरि गच्छति अतः अन्तरिक्षस्य समुद्रः इति आख्यानम्। अनरिक्षाच्च जलं वृष्टिद्वारा समुद्रेषु नदीभिश्च समुद्रेषु आगच्छन्ति अतः पार्थिवसमुद्रस्यापि समुद्र इति अभिधानम्।

३. समुत्तरस्य मुद हर्षे धातोः (समुदको भवति) प्रक्रियाकार्ये समुद्रशब्दः सञ्जातः। यदा अन्तरिक्षाद्वृष्टिः भवति तदा अन्तरिक्षेषु डयमानाः विहगादयः मोदन्ते अतः तस्य समुद्र इति आख्या।

४. सम्पूर्वकाद् उन्दी क्लेदने (समुनत्तीति) धातोः समुद्रशब्दो निष्पद्यते। मेघो यदा जलं स्रावयति तदा सर्वान् क्लेदयति पार्थिवः समुद्रोऽपि क्लेदनकर्म करोति अतः पार्थवस्यापि समुद्रसंज्ञा।

अन्तरिक्षवाचकानि सर्वानि निर्वचनानि अन्तरिक्षस्य सदा जलेन परिपूर्णतां संकेतयति। तच्च जलं सदा सर्वेभ्यः प्राणान् प्रयच्छति।

अध्वरम् – वस्तुतस्तु अध्वपपदस्य प्रयोगः बाहुल्येन यज्ञार्थे प्राप्यते। परन्तु निघन्टौ अन्तरिक्षवाचकेषु पदेषु अस्य पाठः प्राप्यते। तस्य कारणं अन्तरिक्षे एव अग्निषोमात्मकयज्ञः सततमनुष्ठीयते। योऽयं वायुः पवते स एव यज्ञः इति शतपथब्राह्मणमैत्रायणीसंहितादिषु उपदिष्टम्।[31] तैत्तरीयारण्यके उच्यते यज्ञस्य सर्वे अवयवाः अन्तरिक्षे विराजन्ते। अन्तरिक्षरूपस्य यज्ञस्य मेघः शकटः, विद्युदग्निः अस्ति, वर्षा हविः, शब्दः वषट्कारः यद्गर्जनं भवति तदेव अनुवषट्कारः, वायुः यज्ञस्य आत्मा तथा अमावास्या तस्य स्विष्टकृद्वर्तते।[32] एवं च् अन्तरिक्षे सर्वाङ्गसहितस्य यज्ञस्य सत्त्वात्तस्य अध्वरमित्याख्यानें स्वाभाविकमेव। अन्तरिक्षस्थेन यज्ञेन हि देवताः सर्जनशक्तिं प्राप्नुवन्ति, पार्थिवाय भूताय ओषधिवनस्पतयः प्राप्यन्ते, एतैश्च विना जीवाः प्राणान् धारयितुमक्षमाः। अस्मात् यज्ञकारणादेव ग्रीष्मवर्षादि ऋतुचक्रं भवति। ऋतुरूपस्य यज्ञस्य आधारः अन्तरिक्षमेव। दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-पशुबन्ध-आग्निष्टोम-उक्त्थ्य-अतिरात्र-षोडशी-गवामयन-आदित्यानामयनादीनां सत्राणां सम्पादनम् अन्तरिक्षे एव भवति। पुरुषसूक्ते यस्य यज्ञस्य उल्लेखः प्राप्यते स एव राष्ट्रीयज्ञः।

उपसंहारः – उपर्युक्तं सर्वं विचार्य वक्तुं शक्यते तस्य स्वरूपस्य ज्ञानाय अन्तरिक्षविज्ञानस्य च अध्ययनाय तस्य स्वरूपज्ञानाय च वेदस्य देवविषयकान् तत्त्वविषयकान्वा सन्दर्भान् निगूढतया सर्वैः ज्ञातव्यम्। संहितासु विद्यमानेषु मन्त्रेषु यस्य संकेतः प्राप्यते तस्य विश्लेषणं ब्राह्मणग्रन्थेषु प्राप्नुमः। अन्तरिक्षस्थानीय देवानां विवेचनेन अन्तरिक्षविज्ञानविषयकानां नाना शाखानामपि ज्ञानं प्राप्तुम् अर्हामः। अस्यां दिशि वैज्ञानिकाध्ययनस्य आवश्यकता विद्यते। अन्तरिक्षविज्ञानान्तर्भूतस्य दिग्विज्ञानस्य, जलविज्ञानस्य, गतिविज्ञानस्य, विद्युद्विज्ञानस्य, रसविज्ञानस्य, वायुविज्ञानस्य च महत्वं सर्वान् अतिशेते। अस्य स्वरूपं विशेषतः वेदेषु अन्तर्हितमेव। आधुनिकविज्ञानेन सह अस्य तुलनात्मकाध्ययनस्यापि आवश्यकता विद्यते।

****

आश्रितग्रन्थसूची

---

30 समुद्रः कस्मात् समुद्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनतीति वा। निरुक्तम् – २/१०

31 अयं वै यज्ञो योऽयं (वायुः) पवते। शब्रा. १/९/२/२८, २/१/४/११, ४/४/४/१३, ११/१/२/३, मैत्रायणीसंहिता १/४/९, गोपथब्राह्मणम् १/३/२, ४/१

32 तस्य वा एतस्य यज्ञस्य मेघो हविर्धानं विद्युदग्निर्वर्षं हविस्तनयित्नुर्वषट्कारो यदवस्फूर्जति सोऽनुवषट्कारो वायुरात्माऽमावास्या स्विष्टकृत्। तैत्तरीयारण्यकम् – २/१४/१

©Indira Gandhi National Open University

१. अम्भोवादः, पं मधुसूदन ओझा विरचितम्, सम्पा. डॉ. डयानन्दभार्गवः, पं मधुसूदन ओझा शोधप्रकोष्ठः, जोधपुरम् (२००२)
२. आवरणवादः, पं. मधुसूदन ओझा विरचितम्, हिन्दी अनुवादकः – पं. अनन्तशर्मा, सम्पा. डा. दयानन्दभार्गवः, पं. मधुसूदन ओझा शोधप्रकोष्ठः, जोधपुरम् (१९९३)
३. ऋग्वेदानुक्रमणी, वेंकटमाधवकृतम्, हिन्दीव्याख्यासहितम्, सम्पा. विजयपालः,बहालगढ़, सोनीपत (१९७९)
४. निघण्टु -सम्पा. वी के. राजवाडे, भण्डारकर ओरियेण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पुना – (१९४०)
५. निरुक्तम् – यास्कप्रणीत, दुर्गाचार्यकृत-भाष्यसहितम्, श्रीवेंकटेश्वरमुद्रणमन्त्रालयः, मुम्बई (वि. सं. १९८२)
६. वेदविज्ञानमञ्जूषा, सम्पा. के. एन. पाठकः, वेदविज्ञानशोधसंस्थानम्, भरतपुरम् (राजस्थानम्), (१९८८)
७. तैत्तरीयारण्यकम्, आनन्दाश्रमः, संस्कृतग्रन्थावली, सं ३६, पुना (१९२६)
८. गोपथब्राह्मणम् , क्षेमकरण त्रिवेदिकृतं भाषानुवादसहितम्, सम्पा. डॉ. प्रज्ञादेवी एवं मेधादेवी, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, दिल्ली (१९९९)
९. ऋग्वेदसंहा, सायणभाष्यसहितम्, वैदिकसंशोधनमण्डलम्, पुना।
१०. https://ashtadhyayi.com/

****

©Indira Gandhi National Open University

अर्वाचीनवैयाकरणजयदेवमिश्रविरचितशास्त्रार्थरत्नावल्यां सावर्ण्यचिन्तनम्

उत्तमघोषः
शोधच्छात्रः,
रामकृष्णमिशन्-विवेकानन्द-शैक्षणिकशोधसंस्थानम्,
वेलुडमठः, पश्चिमबङ्गराज्यम्
Email: uttamghoshvedvid@gmail.com

समासेन ग्रन्थकृत्परिचयः

चतुःपञ्चाशदधिकाष्टादशशततमे ईशाब्दे मिथिलायां चित्रनाथशचीदेव्योः क्रोडमलङ्कृत्य समजनि अयं जयदेवमिश्रः। काश्यां बालशास्त्रिणः विशुद्धानन्दसरस्वतेः कैलासचन्द्रशिरोमणेश्च व्याकरणं नव्यन्यायं वेदान्तञ्चाधीतवन्तोऽयं विद्वद्वरेण्यः। काशीस्थितदरभङ्गापाठशालायां प्रायेण चत्वारिंशद् वर्षाणि अध्याप्य तदनु पण्डितमदनमोहनमालवीयानुरोधमूररीकृत्य जीवनान्तं यावद् काशीहिन्दुविश्वविद्यालये शतशः छात्रान् अपाठयन् इमे विद्वांसः। तत्कृतिषु परिभाषेन्दुशेखरस्य विजया व्युत्पत्तिवादस्य च जया टीका आभारतं देदीप्यमाना राराजते। पाणिनीयसूत्राणां तथा परिभाषाणामुपरि तदीयग्रन्थः शास्त्रार्थरत्नावली अर्वाचीनशास्त्रार्थपरम्परायाश्चरमनिदर्शनत्वेन मूर्धन्यस्थानमारुह्य स्थितः। ऊनविंशत्यधिकोनविंशति-शततमे ईशाब्दे ब्रिटिशसर्वकारात् महामहोपाध्याय इत्युपाधिना सम्भूषिता इमे गुरुवर्याः। तन्माहात्म्यं ध्वनयता गङ्गानाथझामहोदयेन समुदघोषि-

जयः कुले जयोऽभ्यासे जयः पंडितमंडले।
जयो मृत्यौ जयो मोक्षे जयदेवः सदा जयः।।

षड्विंशत्यधिकोनविंशतितमेईशाब्दे द्वासप्ततितमे वयसि इमे काश्यामेव भौतिकलीलां समाकृष्य ब्रह्मणि लीनाः।

सावर्ण्यविधिशास्त्रम्

सवर्णसंज्ञाविधायकं सूत्रं तावत् तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इति। तुल्यश्च तुल्यश्च इति तुल्यौ, आस्यश्च प्रयत्नश्च इति आस्यप्रयत्नौ। तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नम् इति। सवर्णमिति संज्ञापदम्। तुल्यास्यप्रयत्नं वर्णद्वयं सवर्णं भवतीत्यर्थः।

आस्यपदेन मुखे वर्तमानमुच्चारणस्थानं गृह्यते, प्रयत्नशब्देन च आभ्यन्तरयत्नाः गृह्यन्ते, तेन यस्य वर्णस्य यद् उच्चारणस्थानं यश्च आभ्यन्तरयत्नः तदेवोच्चारणस्थानं स एव च आभ्यन्तरयत्नः यदि अपरस्य वर्णस्य कृते अपेक्षते तर्हि तयोः वर्णयोः परस्परं सवर्णसंज्ञा भवति। अतः वृत्तिस्तावत्- ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यादिति।

आस्यप्रयत्नौ वर्णस्य जनकौ भवतः अतः परिष्कृतार्थो भवति यद्वर्णजनकौ आस्यप्रयत्नौ यद्वर्णजनकाभ्याम् आस्यप्रयत्नाभ्यां तुल्यौ तौ मिथः परस्परं सवर्णसंज्ञौ स्तः इति। अस्योदाहरणं ककारखकारयोः सवर्णसंज्ञा। तथाहि ककारस्य उच्चारणस्थानं कण्ठः आभ्यन्तरप्रयत्नश्च स्पर्शः , एवं खकारस्यापि उच्चारणस्थानं कण्ठः आभ्यन्तरप्रयत्नश्च स्पर्शः अतः यद्वर्णजनकौ कवर्णजनकौ आस्यप्रयत्नौ कण्ठस्पर्शौ यद्वर्णजनकाभ्यां खवर्णजनकाभ्यां आस्यप्रयत्नाभ्यां तुल्यौ तौ कवर्णखवर्णौ परस्परं सवर्णसंज्ञौ स्तः इति।

आस्यशब्दार्थः

अत्र अस्यन्ति वर्णा अनेन अस्यन्दते अन्नं प्राप्य द्रवीभवतीति वा व्युत्पत्त्या निष्पन्नस्य आस्यशब्दस्य मुखमित्यर्थः। ननु सर्वेषां वर्णानां मुखादेव उच्चारितत्वात् सर्वेषां वर्णानामुच्चारणस्थानं समानं स्यादतः उच्यते आस्ये भवमित्यर्थे शरीरावयवाद्यत् इत्यनेन आस्यशब्दाद्यति आस्यमिति, तेन आस्यं नात्र मुखम् अपि तु मुखे वर्तमानं यत्तदेव। ननु मुखे निष्ठीवनादीनामपि सत्त्वात् किम् आस्यपदेन तेषामपि ग्रहणमिति चेदुच्यते निष्ठीवनादीनां वर्णोच्चारणे उपयोगो नास्ति अतः तेषां न ग्रहणम्। एवञ्च मुखे भवं पुनश्च वर्णोच्चारणे सहायकं यत्तदेवात्र आस्यपदेन गृह्यते। एवमास्यपदेन ताल्वादि-उच्चारणस्थानं गृह्यते।

तल्वादिकथने हेतवः

ननु ताल्वादिस्थानं कथमुक्तं मातृकायाम् आदौ अकारस्य सत्त्वाद् तस्य कण्ठस्थानीयत्वात् कण्ठादिस्थानमिति वक्तव्यमसीदिति

©Indira Gandhi National Open University

चेदस्य समाधानत्रयमस्ति-

१. सुदेवोऽसि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः, अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव इति व्याकरणप्रयोजनावसरे भाष्ये काकुदस्यैव इत्यनेन तालुनः एव ग्रहणाद् तत्साम्यादत्रापि तालुग्रहणम्।
२. अथवा तन्त्रेण निर्देशः, तालुनः आदिः ताल्वादिः नाम कण्ठः, तालु आदिर्येषां तानि ताल्वादीनि स्थानानीत्यर्थः। एवं ताल्वादिश्च ताल्वादीनि च इत्येकशेषे ताल्वादिशब्दो निष्पद्यते।
३. नागेशमते तु अत्र तद्धितान्तास्यशब्दोपादानबोधार्थमेव ताल्वादिरिति कथ्यते।

अत्र न तु प्रयतनं प्रयत्नः अपि तु प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः, प्रकृष्टो यत्नो नाम प्रारम्भिकः यत्नः। वर्णोत्पत्तेः प्राक् यो यत्नः क्रियते सोऽत्र प्रयत्नशब्देन गृह्यते स च आभ्यन्तरप्रयत्नः एव। एवं सवर्णसंज्ञायाम् आभ्यन्तरप्रयत्नाः नियामका न तु बाह्यप्रयत्ना इति प्रशब्दोपादानेन ज्ञायते।

ननु सवर्णसंज्ञायां बाह्ययत्नाः कथं न गृह्यन्ते इति चेदुच्यते यदि बाह्ययत्नानामप्यत्र ग्रहणं तर्हि शिण्ढि इति रूपं न स्यात्। तथाहि शिन् ड् ढि इति स्थिते डकारढकारयोः उच्चारणस्थानाभ्यन्तरप्रयत्नयोः साम्येऽपि बाह्ययत्नभेदो वर्तते, डकारः अल्पप्राणः, ढकारो महाप्राणः अतः बाह्ययत्नभेदात्तयोः सवर्णसंज्ञा न स्यात् ततश्च झरो झरि सवर्णे इति सूत्रस्य प्राप्त्यभावात् डकारलोपाभावे शिण्ढि इति रूपं न स्यात्।

यावत्स्थानसाम्यपक्षः

ननु अस्मिन् सूत्रे यत्किञ्चित्स्थानसाम्यं विवक्षितमुत यावत्स्थानसाम्यमिति। यदि यत्किञ्चित्स्थानसाम्यं विवक्षितं स्यात् तर्हि इकार-एकारयोः सवर्णासंज्ञा प्राप्नोति, इचुयशानां तालु, एदैतोः कण्ठतालु इति तयोः तालुस्थानस्य साम्यात्, तेन करोति एवम् इत्यादिषु सवर्णदीर्घः प्राप्येत। न च वर्णसमाम्नाये इकार-एकारयोः पृथक्तया पाठात्तयोः सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोतीति वक्तुं शक्यते अक् इक् इत्यादिप्रत्याहारेषु इकारस्य ग्रहणार्थमेव पृथक्तया इकारस्य पाठ इति दृष्टस्य प्रयोजनान्तरस्य सत्त्वादिति, एवम् इकार-एकारयोस्तु सवर्णसंज्ञा प्राप्नोतीति दोषः।

यदि चात्र यावत्स्थानसाम्यं विवक्षितं तदा यद्यपि इकार-एकारयोः सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति तेन यद्यपि पाणिनेः यजुष्येकेषाम् इत्यादिनिर्देशः सिध्यति तथापि यावत्स्थानसाम्यग्रहणेन ककारङकारयोः सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति तयोः कण्ठस्थानसाम्येऽपि ङकारस्य नासिकास्थानाधिक्यात्, तेन युङ् प्राङ् इत्यादिरूपं न सिध्येत्, तथाहि युन् इति स्थिते क्विन्प्रत्ययस्य कुः इत्यनेन ककारस्य सवर्णानां मध्ये ङकारस्य ग्रहणाभावात् नकारस्य स्थाने ङकारो न स्यात् अतः युङ् इत्यादिरूपं न स्यादिति दोषः।

अत्र सिद्धान्त उच्यते यदस्मिन् सूत्रे यावत्स्थानसाम्यमेव गृहीतं, तथापि ककारङकारयोः सवर्णसंज्ञाया बाधो न भवति यतो हि अस्मिन् सूत्रे आस्यपदेन मुखे वर्तमानानां स्थानानां ग्रहणम्। ङकारस्य यद् नासिकारूपमधिकमुच्चारणस्थानं वर्तते तत्तु आस्याद्बहिर्भूतम् इति। एवम् मुखनासिकावचनोऽनुनासिक इत्यादिसूत्रे मुखग्रहणे सत्यपि पुनः नासिकाग्रहणेनापि ज्ञायते नासिका मुखाद् बहिर्भूतेति। अतो न तयोः सवर्णसंज्ञाबाधः।

ननु तथापि उदात्ताकारानुदात्ताकारयोः सवर्णसंज्ञा न सिध्यति, उदात्ताकारः कण्ठस्य ऊर्ध्वभागात् निष्पन्नः, अनुदात्तः अकारः कण्ठस्य अधोभागान्निष्पन्नः, अतः तयोरेकस्य कण्ठस्य ऊर्ध्वभागनिष्पन्नत्वाद् अपरस्य च कण्ठस्याधोभागनिष्पन्नत्वात् तु यावत्स्थानसाम्यं नास्ति इति चेदुच्यते भगवता पाणिनिना कण्ठत्वेन कण्ठः, दन्तत्वेन दन्ताः एवम्प्रकारेण उच्चारणस्थानं विहितमतः उदात्तानुदात्तयोरकारयोस्तु कण्ठत्वेन कण्ठः, उच्चारणस्थानमस्त्येव अतो न तयोः उच्चारणस्थानभेदः। अतः सवर्णसंज्ञा सिध्यत्येव।

स्वरमात्रादिना समानयोरकारयोः कथं सवर्णसंज्ञा इति चेदुच्यते यद्यपि तत्र अकारयोः भेदो न दृश्यते तथापि प्रत्युच्चारणं शब्दा भिद्यन्ते इति न्यायेन तयोर्भेदोऽस्त्येव इति।

ननु पूर्वप्रतिपादितयोः ककारखकारयोः सवर्णसंज्ञा न सिध्यति यावत्स्थानसाम्याभावात्। साम्यं च सादृश्यं तच्च तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। ककारखकारजनकयोः उच्चारणस्थानयोः प्रयत्नयोश्च तद्गतभूयोधर्मवत्त्वेऽपि तद्भिन्नत्वं नास्ति। ककारस्य उच्चारणे यद् उच्चारणस्थानं यश्च प्रयत्नः अपेक्षितः तदेवोच्चारणस्थानं स एव च प्रयत्नः खकारस्यापीति, अत्रोच्यते कार्यगतभेदस्य

©Indira Gandhi National Open University

कारणे आरोपः। कारणीभूतयोः कण्ठस्थानाभ्यन्तरप्रयत्नयोः यत्कार्यं ककारः खकारश्च तयोः भेदः कारणे आरोप्यते इति तद्भिन्नत्वे सतीति पदमेव नापेक्ष्यते इति भाष्ये विस्तरः।

प्रयत्नस्य पृथग्ग्रहणयौक्तिकता

ननु आस्यपदेन आस्यभवानां ग्रहणात् प्रयत्नस्य ग्रहणं मास्तु प्रयत्नस्यापि आस्यभवत्वात् इति चेदुच्यते तदा ह्रस्वदीर्घयोः स्वरवर्णयोः न सवर्णसंज्ञा सिध्यति, ह्रस्ववर्णजनकवायुसंयोगरूपाभ्यन्तरप्रयत्नस्य दीर्घवर्णजनकवायुसंयोगरूपाभ्यन्तरप्रयत्नाद् भिन्नत्वात् इति। अतः अत्र प्रयत्नशब्दः स्पृष्टेषत्स्पृष्टविवृतसंवृतेषु एव पारिभाषिकः। अतः तयोः विवृतरूपप्रयत्नसाम्यात् सवर्णसंज्ञायां न बाधः। पुनश्च अत्र आस्यपदेन आस्यभवानाम् उच्चारणस्थानानामेव ग्रहणं नान्येषामिति ज्ञापयितुमपि अत्र प्रयत्नशब्दस्य पुथगुल्लेखः।

सूत्रे आस्यपदाभावे केवलं प्रयत्नसाम्यादेव सवर्णसंज्ञा स्यात् तदानीं तर्मा इत्यत्र पकारतकारयोः स्पर्शरूपाभ्यन्तरप्रयत्नसाम्यात् सवर्णसंज्ञा स्यात्तेन च झरि झरि सवर्णे इत्यनेन हलः रेफात्परस्य झरः पकारस्य सवर्णे झरि तकारे परे लोपप्रसक्तिः स्यात्। सूत्रे प्रयत्नपदाभावे केवलम् उच्चारणस्थानसाम्यादेव सवर्णसंज्ञा स्यात् तेन वाक् श्च्योतति इत्यत्र शकारचकारयोः तालुरूपस्थानसाम्यात् सवर्णसंज्ञा स्यात् तदानीं झरो झरि सवर्णे इत्यनेन हलः ककारात्परस्य झरः शकारस्य सवर्णे झरि चकारे परे लोपप्रसक्तिः स्यादिति।

शस्त्रार्थरत्नावलीदिशा निष्कृष्टार्थः

अन्तिमे सर्वं विचार्य अस्य सूत्रस्य विद्वद्भिः स्वीकृतः निष्कृष्टः अर्थो भवति स्वविशिष्टः वर्णः स्वसवर्ण इति। एकस्य वर्णस्य यद्वैशिष्ट्यं तद्यदि अन्यस्य वर्णस्य स्यात्तदा तयोः वर्णयोः सवर्णसंज्ञा सिध्यति। किं तद्वैशिष्ट्यमिति चेत् स्वजनकस्थानजन्यत्वम्, स्वाजनकास्थानाजन्यत्वम्, स्वजनकप्रयत्नजन्यत्वम्, स्वाजनकप्रयत्नाजन्यत्वमिति। स्वजनकस्थानजन्यत्ववैशिष्ट्यस्वीकारेण न कचयोः सवर्णसंज्ञा। कवर्णजनककण्ठस्थानजन्यत्वं न चकारे अपि तु अजन्यत्वमेव अस्ति। स्वाजनकस्थानाजन्यत्ववैशिष्ट्यस्वीकारेण न इकार-एकारयोः सावर्ण्यम्। इकाराजनककण्ठस्थानजन्यत्वमेव एकारे न तु अजन्यत्वम्। स्वजनकप्रयत्नजन्यत्ववैशिष्ट्यस्वीकारेण चकारयकारयोर्न सवर्णसंज्ञा। चकारजनकस्पर्शप्रयत्नाजन्यत्वमेव यकारे न तु जन्यत्वम्। स्वाजनकप्रयत्नाजन्यत्वरूप-चतुर्थवैशिष्ट्यस्वीकारेण न एकार-ऐकारयोः सवर्णसंज्ञा। एकारजनकविवृततरप्रयत्नजन्यत्वमेव ऐकारे न तु अजन्यत्वम्। एवं परिष्कृतोऽर्थो भवति स्वजनकस्थानजन्यत्व-स्वाजनकास्थानाजन्यत्व-स्वजनकप्रयत्नजन्यत्व-स्वाजनकप्रयत्नाजन्यत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववान् वर्णः सवर्णसंज्ञकः भवतीति शम्।

परिशीलितग्रन्थसूची

1. भट्टोजिदीक्षितः।२०१०।वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमातत्त्वबोधिनीसहिता)।शर्मा, परमेश्वरानन्दः(सम्पा०)।वाराणसी : मोतिलालबनारसीदास।
2. भट्टोजिदीक्षितः।२०१५।वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (मूलमात्रम्)।श्रीगोविन्दाचार्यः (सम्पा०)।वाराणसी : चौखम्बासुरभारतीप्रकाशन।
3. नागेशभट्टः।२०१३।लघुशब्देन्दुशेखरः (सुबोधिनीहिन्दीव्याख्योपेतः)।मिश्रः, विश्वनाथः (सम्पा०)।वाराणसी : चौखम्बासुरभारतीप्रकाशन।
4. पतञ्जलिः।२०१३।व्याकरणमहाभाष्यम् (प्रदीपोद्योतभावबोधिनीहिन्दीव्याख्यासमुल्लसितम्)।त्रिपाठी, जयशङ्करलालः (सम्पा०)।वाराणसी : कृष्णदासअकादेमी।
5. पतञ्जलिः।२०१४।व्याकरणमहाभाष्यम् (भाष्यप्रदीपोद्योतसमुल्लसितम्)।जोशी, भार्गवशास्त्री (संशोधकः)।दिल्ली : चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठान।
6. प्रो. कृष्णकुमारः। महाभाष्यार्थदीपिका, Chinmaya International Foundation Shodha Sansthan
7. एम एस नरसिंहाचार्यः। महाभाष्यप्रदीपव्याख्यानानि, INSTITUT FRANÇAIS D'INDOLOGIE PONDICHERY,1978
8. पण्डित शिवदत्तशर्मा। व्याकरणमहाभाष्यम्, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।

©Indira Gandhi National Open University

भाट्टसिद्धान्तानुसारं धर्मजिज्ञासाधिकरणविमर्शः

चन्दनः मुखर्जी
शोधच्छात्रः, संस्कृत-दर्शन-विभागः
रामकृष्णमिशन्-विवेकानन्द-शैक्षणिकशोधसंस्थानम्, वेलुडमठः पश्चिमबङ्गराज्यम्
Email: chandanmukherjee711@gmail.com

१. उपोद्घातः

भारतीयदर्शनेषु मीमांसादर्शनस्य स्थानं महद्वर्तते। विषयबाहुल्यदृष्ट्या विषयगाम्भीर्यदृष्ट्या चास्य दर्शनस्य प्रशस्तिः नितरां विद्यते। वैदिककर्मकाण्डरूपेण वाक्यशास्त्ररूपेण च नैकासां समस्यानां समाधानायेदं शास्त्रं न केवलं दार्शनिकसाहित्यायापि तु व्याकरणधर्मशास्त्रादीनाम् अध्ययनाय अपि अत्यन्तमेवोपादेयं वर्तते। कुमारिलभट्टमतानुसारं - "मीमांसाख्या तु विधेयं बहुविद्यान्तराश्रिता" इति। विचारप्रधानस्यास्य शास्त्रस्य विचारशास्त्रमिति अभिधानं सर्वत्रैव शास्त्रे कृतं वर्तते। "विचारोपायभूतं न्यायनिबन्धनं मीमांसाशास्त्रम्" इति प्रसिद्धम्। पदवाक्यप्रमाणशास्त्रेषु चेदं शास्त्रं वाक्यशास्त्ररूपेण विद्वत्परिषदि शोभते। यतो हि वाक्यनिर्णयाय यावन्ति साधनानि इदं शास्त्रं प्रस्तुवति, नान्यम्। शास्त्रे प्रकरणादिभिः वाक्यार्थानां नियमनम्, अथ च उपक्रमोपसंहारादिभिः लिङ्गैः ज्ञानस्यानिवार्यतां साधितं वर्तते। अत एव इदं शास्त्रं वाक्यशास्त्ररूपेण अत्यन्तमेव महत्वपूर्णं वर्तते।

२. पूर्वमीमांसाशास्त्रम्

षट्सु भारतीयदर्शनेषु साक्षात् वेदमाश्रित्य ये दर्शने प्रवृत्ते ते हि पूर्वमीमांसादर्शनम् उत्तरमीमांसादर्शनञ्च। मीमांसाशब्दस्यार्थः पूजितविचारः। उत्तरमीमांसादर्शनं वेदान्तदर्शननाम्ना, पूर्वमीमांसादर्शनं च मीमांसादर्शननाम्ना प्रसिद्धिं गतम्। एतयोः मध्ये मीमांसादर्शनं कर्मकाण्डात्मकस्य वेदभागस्य विचाराय प्रवृत्तम्। अर्थात् कर्मकाण्डे विहितानां विषयाणां यत्र चर्चा भवति, यत्र च वेदविहितेषु विषयेषु संशये सति समाधानं लभ्यते तदेव पूर्वमीमांसादर्शनम्। अस्य शास्त्रस्य प्रतिपाद्यविषयत्वेन धर्मजिज्ञासा एव तत्र मुख्यो विषयः। विधिविहितत्वात् धर्मस्य मूलं वेद एव। तत्र विधि-मन्त्र-नामधेय-अर्थवाद-निषेध-भेदेन वेदः पञ्चविधः। तेषु विधेः प्राधान्यात् विधिपदेन वेद एव ग्राह्यः। तथा हि - "चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः"[1] इति जैमिनिना प्रोक्तम्।

३. महर्षिजैमिनिः

महर्षेः जैमिनेः प्रामाणिकम् इतिवृत्तं यद्यपि नोपलभ्यते। प्राचीनसाहित्ये नैकप्रकारेण जैमिनिमहर्षिः निर्दिष्टो वर्तते। क्वचित् मीमांसागृह्यसूत्रयोः कर्तृत्वेन, क्वचित् सामवेदप्रवर्तकत्वेन, क्वचिच्च ज्योतिर्विद्रूपेण उल्लिखितो वर्तते। क्वचित् योगाचार्यरूपेण क्वचित् ब्रह्मविद्याविशेषज्ञरूपेण च निर्दिष्टो वर्तते। पुराणकाव्यादिप्राचीनसाहित्येष्वपि आचार्यस्य जैमिनेः नाम श्रूयते। एतद्विहाय मीमांसासूत्रेष्वपि बहुत्र स्थलेषु जैमिनेरभिधानं वर्तते। यथा - "कर्मण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्"[2] इति, "अधिकं च विवरणं जैमिनिः स्तोभशब्दत्वात्"[3] इति, "जैमिनेः परतन्त्रत्वापत्तेः स्वतन्त्रप्रतिषेधः स्यात्"[4] स्यात् चेति। जैमिनेः समयः ख्रिष्टीयद्वितीयशताब्दीतः पूर्वं भवितुं नार्हति। यतो हि जैमिनिः बादरायणसमकालिनः। तेन विरचितः द्वादशलक्षणीनाम्ना ग्रन्थः पूर्वमीमांसादर्शनस्य मुख्यो ग्रन्थः।

४. द्वादशलक्षणी

---

[1]मीमांसासूत्रम् (१/१/२)

[2]मीमांसासूत्रम् (३/१/४)

[3]मीमांसासूत्रम् (९/२/११)

[4]मीमांसासूत्रम् (१२/१/३)

©Indira Gandhi National Open University

परमकारुणिकः जैमिनिः द्वादशलक्षणीं विरचितवान्। द्वादशलक्षण्याः एव अपरं नाम जैमिनीयसूत्रं पूर्वमीमांसासूत्रं वा। उच्यते लौगाक्षिभास्करेण - "अथ परमकारुणिको भगवान् जैमिनिर्धर्मविवेकाय द्वादशलक्षणीं प्रणिनाय"[5] इति। अत्र लक्षणशब्दः अध्यायवाचकः। द्वादशानां लक्षणानां समाहारः द्वादशलक्षणी। अस्मिन् ग्रन्थे १२ अध्यायाः, ६० पादाः, २७४४ सूत्राणि च विलसन्ति।

अध्यायः	अध्यायस्य नाम	पादः	सूत्रं	प्रतिपाद्यविषयः
1	धर्मस्वरूपम् (4/150)	प्रथमपादः	32	विधिप्रामाण्यम्
		द्वितीयपादः	53	मन्त्रार्थवादप्रामाण्यम्
		तृतीयपादः	35	स्मृतिप्रामाण्यम्
		चतुर्थपादः	30	नामप्रामाण्यम्
2	कर्मभेदप्रमाणानि (4/139)	प्रथमपादः	49	कर्मभेदः
		द्वितीयपादः	29	धातुभेदः
		तृतीयपादः	29	कर्मभेदापवादः
		चतुर्थपादः	32	नित्यकाम्ययोः भेदः
3	शेषशेषिभावविचारः (8/368)	प्रथमपादः	27	प्रमाणविचारः
		द्वितीयपादः	43	लिङ्गप्रमाणम्
		तृतीयपादः	46	वाक्यप्रकरणस्थानप्रमाणम्
		चतुर्थपादः	57	निवीतोपवीतकर्माणि
		पञ्चमपादः	53	प्रतिपत्तिकर्म
		षष्ठपादः	47	विहितकर्म
		सप्तमपादः	51	प्रयाजादिकर्म
		अष्टमपादः	44	यजमानकर्म
4	अङ्गाङ्गिभावसम्बन्धः (4/161)	प्रथमपादः	48	प्रधानकर्म
		द्वितीयपादः	31	अप्रधानकर्म
		तृतीयपादः	41	जुहूफलम्
		चतुर्थपादः	41	राजसूययागे अप्रधानकर्म
5	प्रधानोपकारकम् (4/128)	प्रथमपादः	35	श्रुत्यर्थक्रमनिरूपणम्
		द्वितीयपादः	23	क्रमभागवर्णनम्

[5]अर्थसंग्रहः (प्रथमं वाक्यम्)

©Indira Gandhi National Open University

अध्यायः	अध्यायस्य नाम	पादः	सूत्रं	प्रतिपाद्यविषयः
		तृतीयपादः	44	वृद्ध्यवृद्धिविचारः
		चतुर्थपादः	26	प्रमाणानां दौर्बल्यत्वविचारः
6	अधिकारः (8/349)	प्रथमपादः	52	अधिकारी
		द्वितीयपादः	31	अधिकारिधर्मः
		तृतीयपादः	41	प्राप्यवस्तुग्रहणम्
		चतुर्थपादः	47	वस्तुलोपः
		पञ्चमपादः	56	प्रायश्चित्तम्
		षष्ठपादः	39	सत्राधिकारी
		सप्तमपादः	40	देयादेयवस्तुवर्णनम्
		अष्टमपादः	43	लौकिकाग्निः
7	सामान्यातिदेशः (4/100)	प्रथमपादः	23	स्थानान्तरविचारः
		द्वितीयपादः	21	अवशिष्टविचारः
		तृतीयपादः	36	कारणस्थानान्तरणम्
		चतुर्थपादः	20	लिङ्गस्थानान्तरणम्
8	विशेषातिदेशः (4/138)	प्रथमपादः	43	स्पष्टलिङ्गातिदेशः
		द्वितीयपादः	32	अस्पष्टलिङ्गातिदेशः
		तृतीयपादः	36	प्रबललिङ्गस्थानान्तरणम्
		चतुर्थपादः	27	स्थानान्तरणापवादः
9	ऊहः (4/221)	प्रथमपादः	58	ऊहविचारः
		द्वितीयपादः	60	सामोहः
		तृतीयपादः	43	मन्त्रोहः
		चतुर्थपादः	60	ऊहप्रश्नः
10	बाधः (8/497)	प्रथमपादः	58	द्वारलोपः
		द्वितीयपादः	74	द्वारलोपोदाहरणम्
		तृतीयपादः	75	कार्यबाधः
		चतुर्थपादः	59	समुच्चयः

©Indira Gandhi National Open University

अध्यायः	अध्यायस्य नाम	पादः	सूत्रं	प्रतिपाद्यविषयः
		पञ्चमपादः	8	ग्रहादिविचारः
		षष्ठपादः	80	सामविचारः
		सप्तमपादः	73	सामान्यविचारः
		अष्टमपादः	70	नञर्थविचारः
11	तन्त्रनिरूपणम् (4/247)	प्रथमपादः	71	तन्त्रोपद्घातः
		द्वितीयपादः	66	तन्त्रावापौ
		तृतीयपादः	54	तन्त्रविस्तारः
		चतुर्थपादः	56	आवापविस्तारः
12	प्रसङ्गनिरूपणम् (4/168)	प्रथमपादः	46	प्रसङ्गविचारः
		द्वितीयपादः	37	तन्त्रिनिर्णयः
		तृतीयपादः	38	प्रसङ्गसमुच्चयः
		चतुर्थपादः	47	प्रसङ्गविकल्पः

एवं मीमांसासूत्रोपरि बहवः भाष्यग्रन्थाः रचिताः। तेषु शबरस्वामिनः शाबरभाष्यमेव सर्वप्राचीनमिति मन्यन्ते।

५. मीमांसायाः सम्प्रदायाः

शबरस्वामिनः परवर्तिनि काले त्रयः टीकाकाराः आगताः। तेषामेव नामानुसारेण मीमांसादर्शनस्य त्रयः सम्प्रदायाः प्रतिष्ठिताः। कुमारिलभट्टस्य सम्प्रदायः, अयमेव तौतातिकसम्प्रदायनाम्नापि अभिधीयते। एष एव सम्प्रदायः भाट्टसम्प्रदायः इत्युच्यते। प्राभाकरमिश्राणां प्राभाकरसम्प्रदायः, अयमेव सम्प्रदायः गुरुसम्प्रदायः इत्यपि प्रोच्यते। तृतीयस्तु सम्प्रदायो भवति मुरारिमिश्रस्य। एतेषु मुरारिमिश्रस्य सम्प्रदायः तथा न प्रसिद्धः। अस्य सम्प्रदायस्य ग्रन्थाः प्रायः नैवोपलभ्यन्ते। कुमारिलभट्टस्य सम्प्रदायः अतीव प्रसिद्धः। कुमारिलस्य शिष्यः प्रभाकरः प्राभाकरमीमांसासम्प्रदायं प्रारब्धवान्। कुमारिलभट्टेन शाबरभाष्योपरि त्रयो ग्रन्थाः विरचिताः - श्लोकवार्तिकं तन्त्रवार्तिकं टुप्टीका च। प्रभाकरेण तावत् द्वे टीके शाबरभाष्योपरि विलिखिते - लघ्वी बृहती चेति। कुमारिलभट्टस्य परम्परायां प्रमुखाः दार्शनिकाः भवन्ति - पार्थसारथिमिश्रः माधवाचार्यः खण्डदेवाश्च। गुरुसम्प्रदाये शालिकनाथमिश्रः अत्यन्तं प्रसिद्धः।

६. धर्मविचारः

ननु धर्मानुष्ठानवशादेव अभिमतधर्मसिद्धिः इति वारं वारं प्रतिपाद्यते धर्मशास्त्रेषु। तर्हि धर्मः नाम कः इति जिज्ञासा उदेति। तत्र लौगाक्षिभास्करो वदति - "यागादिरेव धर्मः"[6] इति। तस्य लक्षणं चोक्तं - "वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः"[7] इति। वेदप्रतिपाद्यत्वे सति प्रयोजनवत्त्वे च सति अर्थत्वं धर्मस्य लक्षणम्। धर्मः यागः वेदेन प्रतिपाद्यते। यागादौ लक्ष्ये लक्षणमिदं समन्वेति। यजेत स्वर्गकामः, अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इत्यादिवेदवाक्यैः प्रतिपाद्यमानाः यागादयः इति तेषु वेदप्रतिपाद्यत्वमस्ति। स्वर्गः प्रयोजनम्। यागेन स्वर्गः लभ्यते। तस्मात् प्रयोजनं यस्यास्ति सः

[6]अर्थसंग्रहः (पृ.११)

[7]अर्थसंग्रहः (पृ. ११)

©Indira Gandhi National Open University

प्रयोजनवान्। अतः यागः प्रयोजनवान्। पुनः इष्टफलजनकत्वेन यागः अर्थ्यते प्रार्थ्यते। तस्मात् यागः अर्थः। एवं यागे धर्मलक्षणसमन्वयः। यागादिरेव धर्मः।

एवं जैमिनिः अपि स्वसूत्रे - "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"[8] इति। चोदना नाम प्रवर्तना उपदेशः वा। उच्यते - "चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः"[9] इति, "चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः"[10] इति, "चोदनपदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वात्"[11] इति। चोदनापदं विधिवाक्यवाचकम्। एवं धर्मो नाम वेद एव।

७. धर्मजिज्ञासाधिकरणम्

७.१. अधिकरणलक्षणम्

अधिकरणं किमिति चेदुच्यते सामान्यतया विचारपद्धतिः। अधिकरणकौमुद्यां प्रोक्तम्- "अधिकृत्य क्रियतेऽर्थविचारो यस्मिन् तदधिकरणमि"ति। अर्थाद् विचार्यविषयमाधारीकृत्य यया पद्धत्या विचारो विधीयते सा पद्धतिरेव अधिकरणमित्युच्यते। सामान्यतया एकस्मिन्नधिकरणे एकार्थप्रतिपादकविषयाणां प्रस्तुतिर्विधीयते। मीमांसासम्प्रदायीया इयं पद्धतिरिति सामान्यतया उच्यते।

पुरा अधिकरणसरणिमाश्रित्य बहवो ग्रन्था विरचिताः। यथा जैमिनेः द्वादशलक्षणी, बादरायणस्य ब्रह्मसूत्रम्, भारततीर्थस्य वैयासिकन्यायमाला, भाट्टदीपिका, न्यायबिन्दुरित्यादयो ग्रन्था एनां सरणिमाश्रित्य विरचिताः।अधिकरणस्यापरं नाम पञ्चाङ्गन्यायः। तस्य पञ्चाङ्गानि भवन्ति-

"विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।

सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः॥"[12]इति।

अङ्गविषये विवादे सत्त्वेऽपि उपर्युपन्यस्तानां समेषामङ्गानां सामान्यतः स्वरूपमधो वर्ण्यते-

क) विषयः- विचाराय यस्य वस्तुनः प्रस्तुतिर्भवति स एव विषय इत्युच्यते।

ख) विशयः- विशयो नाम संशयः सन्देहो वा। एकधर्मिणि विरुद्धनानाधर्मज्ञानं संशयः।

ग) पूर्वपक्षः- विचार्यविषयस्यायोग्यता प्रदर्शनमथवा तद्विरुद्धयुक्तिविन्यासः पूर्वपक्षः।

घ) उत्तरम्- पूर्वपक्षस्य युक्तिनिरासकारकं वाक्यमुत्तरं भवति। सिद्धान्तपक्ष इति नामान्तरम्।

ङ) सङ्गतिः- सङ्गतिर्हि सम्बन्धः।

८. द्वादशलक्षण्यां जिज्ञासाधिकरणम्

---

[8]मीमांसासूत्रम् (१/१/२)

[9]शाबरभाष्यम्

[10]श्लोकवार्तिकम्

[11]अर्थसंग्रहः

[12]श्लोकवार्तिकम्

©Indira Gandhi National Open University

"अथातो धर्मजिज्ञासा"[13] इति सूत्रेण आरभ्यते द्वादशलक्षण्यां जिज्ञासाधिकरणम्। अथशब्दः वेदाध्ययनानन्तर्यवचनः। अर्थात् वेदाध्ययनात् परमेव धर्मजिज्ञासा कर्तव्या इति। अतः शब्दः वेदाध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं वदति। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"[14]इति अध्ययनविधौ तदध्ययनस्य अर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकत्वेन व्यवस्थापनम् इति। धर्मजिज्ञासां प्रति हेतुः वेदाध्ययनस्य अर्थज्ञानरूपदृष्टफलम्, अतः धर्मजिज्ञासेति। एवं विचारे क्रियमाणे प्रथमं वेदवाक्यानाम् अध्ययनं सामान्यतः तदर्थज्ञानं च यदि न स्यातां तर्हि निर्णयात्मकविचारस्य कुत्रावसरः। अतः वेदाध्ययनस्य दृष्टफलार्थत्वं जिज्ञासां प्रति हेतुः। अत्र प्रश्नो भवति - जिज्ञासा नाम ज्ञातुमिच्छा। तर्हि इच्छायाः कर्तव्यत्वं कथं सङ्गच्छते। जिज्ञासा इत्यत्र ज्ञाधातुः इच्छार्थकसन्प्रत्ययश्च। तत्र धातोः ज्ञानसामान्यमर्थः। तस्य च विषयो धर्मः। धर्मविषयकं ज्ञानं धर्मसम्बन्धि वा ज्ञानमित्यर्थः। तथा च धर्मविषयकज्ञानेच्छा धर्मसम्बन्धिज्ञानेच्छा वेति सम्पन्नम्। तत्र विषयभूतस्य धर्मस्य ज्ञातत्वे प्रसिद्धत्वे वा तज्ज्ञानेच्छा नोपपद्यते ज्ञातत्वात् प्रसिद्धत्वाच्च। यदि वा विषयस्य धर्मस्य अज्ञातत्वम् अप्रसिद्धं वा तदा सर्वथा जिज्ञासायाः अनुपपत्तिः। तस्मात् जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा इति अभिप्रायः। अतः धर्मविचारः कर्तव्यः इति अर्थः फलति। धर्मविषये बहुधा विप्रतिपत्तयः सन्ति। तदुक्तं कुमारिलभट्टैः-

"अन्तःकरणवृत्त्यादौ वासनायाश्च चेतसः।

पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्वजन्मनि॥"[15]इति

अतः धर्मस्वरूपं विचार्य एव निर्णेतुं शक्यते इति जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा।

९. भाट्टमतानुसारं जिज्ञासाधिकरणस्वरूपम्

अधिकरणस्य पञ्चाङ्गानि तावत् - विषयः, संशयः, पूर्वपक्षः, सिद्धान्तः, सङ्गतिश्चेति। जिज्ञासाधिकरणे अपि आचार्यैः कुमारिलभट्टपादैः पञ्च अङ्गानि विवेचितानि।

क) विषयः - साध्यायोऽध्येतव्यः इति एतद्वाक्यं विषयः। स्वाध्यायो नाम वेदः। वेदः अध्येतव्यः।

ख) संशयः - "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"[16] इति आदिमं मीमांसासूत्रम्। पुनः "अन्वाहार्ये च दर्शनात्"[17] इति अन्तिमं मीमांसासूत्रम्। एवं प्रकारकं जैमिनीयधर्मशास्त्रम् आरम्भणीयं न वेति संशयः अध्ययनविधेः अदृष्टार्थत्वदृष्टार्थत्वाभ्याम्। स्वाध्यायः अध्येतव्यः इत्यत्र दृष्टार्थत्वम् अपि अस्ति, पुनः अदृष्टार्थत्वमपि अस्ति। दृष्टार्थः तावत् अर्थज्ञानम्। अदृष्टार्थः स्वर्गप्राप्तिः। अध्ययनविधेः दृष्टार्थत्वे मीमांसाशास्त्रम् आरम्भणीयम्। पुनः अध्ययनविधेः अदृष्टार्थत्वे स्वर्गज्ञानपर्यन्ततात्पर्यात् मीमांसाशास्त्रं नारम्भणीयम्। तस्मात् अत्र सन्देहः मीमांसाशास्त्रम् आरम्भणीयं न वेति।

ग) पूर्वपक्षः - मीमांसाशास्त्रं न आरम्भणीयमिति पूर्वपक्षः। अध्ययनविधेः अर्थावबोधलक्षणत्वात् अदृष्टफलकत्वानुपपत्तेः। अर्थावबोधार्थम् अध्ययनविधिः इति चेत् किम् अत्यन्तम् अप्राप्तम् अध्ययनं विधीयते किं वा पाक्षिकम् अवघातवत् नियम्यते इति।

- <u>अध्ययनविधौ अपूर्वविधिः नास्ति इति पूर्वपक्षः</u> -
  अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। प्रमाणान्तरेण अप्राप्तस्य प्रापको विधिः अपूर्वविधिः। स च प्रमाणान्तरेण अप्राप्तं विधत्ते। यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इति विधिः मानान्तरेण अप्राप्तं स्वर्गप्रयोजनवद्धोमं विधत्ते। तथा अध्ययनविधिर्नास्ति। वेदाध्ययनम् अर्थावबोधहेतुः अध्ययनत्वात् भारताध्ययनवत् इति अनुमानेन विधिं परित्यज्यापि अर्थावबोधो भवति। तस्मात् अध्ययनविधौ विध्यपेक्षा नास्ति।

---

[13]द्वादशलक्षणी (१/१/१)

[14]तैत्तिरीयारण्यकम् (२/१५/७)

[15]श्लोकवार्तिकम्

[16]मीमांसासूत्रम् (१/१/२)

[17]मीमांसीसूत्रम् (१२/४/४७)

©Indira Gandhi National Open University

- अध्ययनविधौ नियमविधिः नास्ति इति पूर्वपक्षः -
  पक्षे अप्राप्तस्य प्रापको विधिः नियमविधिः। यथा नखविदलनादिना तण्डुलनिष्पत्तिसम्भवात् पाक्षिकः अवघातः अवश्यं कर्तव्यः इति विधिना नियम्यते। तथा, लिखितपाठेनापि अर्थज्ञानसम्भवात् पाक्षिकमध्ययनं विधिना नियम्यते इति चेत् न, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः वैधर्म्यसम्भवात्।

अवघातनिष्पन्नतण्डुलैः पुरोडाशादिनिर्माणे अवान्तरापूर्वम् उत्पद्यते, तेन दर्शपूर्णमासयागे परमापूर्वम् उत्पद्यते। नखविदलनैः निष्पन्नैः तण्डुलैः तथापूर्वं नोत्पद्यते। अतः अपूर्वोत्पादनाय नियमविधिः। प्रकृतपक्षे लिखितपाठाध्ययनद्वारा अर्थावबोधसम्भवात् क्रत्वनुष्ठानसिद्धेः अध्ययनस्य नियमविधिर्नास्ति। तस्मातदध्ययने न नियमविधिः इति पूर्वपक्षः। मीमांसाशब्दस्य विधित्वं नास्ति इति पूर्वाः।

- अध्येतव्यः इत्यत्र अक्षरग्रहणमात्रविधिः इति पूर्वपक्षः -
  स्वाध्यायः अध्येतव्यः इत्यत्र तव्यप्रत्ययश्रवणात् अध्ययनविधेः का गतिरिति चेत् - स्वर्गफलकः अक्षरग्रहणमात्रविधिः इति। कथं विधिरिति चेत् - विश्वजिन्न्यायेनेति। विश्वजिन्न्यायेन अश्रुतस्यापि स्वर्गस्य कल्पयितुं शक्यत्वात्। जैमिनीयसूत्रमत्र प्रमाणं - "स स्वर्गः सर्वान्पत्यविशिष्टत्वात्"[18] इति। तदुक्तं -

  "विनापि विधिना दृष्टलाभान्न हि तदर्थता।
  कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात्स्वर्गो विश्वजिदादिवत्॥"[19]इति

  अक्षरग्रहणमात्रेणैव स्वर्गसिद्धिः इति पूर्वपक्षिणां सिद्धान्तः।

- समावर्तनस्मृतिबलात् समावर्तनशास्त्राच्च धर्मविचारशास्त्रं नारम्भणीयमिति पूर्वपक्षः
  अध्ययनविधेः अर्थानवबोधकत्वे वेदमधीत्य स्नायादिति स्मृतिरपि अनुगृहीता भवति। वेदाध्ययनसमावर्तनयोः मध्ये अव्यवधानम् अवगम्यते। यदि अध्ययनविधिना एवार्थावबोधः स्यात्, तर्हि धर्मविचाराय शिष्यैः गुरुकूले वस्तव्यम्। एवम् वेदाध्ययनसमावर्तनयोः व्यवधानम् अपेक्ष्यते। तस्मात् विचारशास्त्रस्य वैधत्वाभावात् केवलं पठनमात्रेण स्वर्गसिद्धेः समावर्तनशास्त्राच्च विचारशास्त्रम् अनारम्भणीयमिति पूर्वपक्षः।

घ) सिद्धान्तपक्षः - सिद्धान्तिनः भाट्टास्तु धर्मविचारशास्त्रम् आरम्भणीयमेव इति प्रतिपादयन्ति।

- स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इत्यत्र नास्ति अपूर्वविधिः -
  अन्यतः प्राप्तत्वात्, लिखिचपाठादिनापि अर्थावबोधात् अध्ययनविधेः अपूर्वविधित्वं मास्तु।

- स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इत्यत्र अवश्यमेव नियमविधिः -
  नियमविधित्वपक्षस्तु वज्रहस्तेनापि अपहस्तयितुं न पार्यते। अध्येतव्यः इति तव्यप्रत्ययः प्रेरणापरपर्यायः पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थः शाब्दीभावनायुतः।

- अध्येतव्यः इति शब्दार्थः आर्थीभावनायां साध्यत्वेन नान्वेति -
  आर्थीभावनायाम् अध्ययनं भाव्यत्वेन साध्यत्वेन नान्वेति। सुखकरः एव शब्दः आर्थीभावनायां साध्यत्वेन अन्वेति। परन्तु अध्ययनशब्दार्थः स्वाधीनोच्चारणक्षमः वाङ्मनसव्यापाररूपः क्लेशार्थकः तस्मात् अध्ययनमिति शब्दः आर्थीभावनायां साध्यत्वेन न संगच्छते।

---

[18]जैमिनीयसूत्रम् (४/३/१)

[19]सर्वदर्शनसंग्रहः (जैमिनिदर्शनम्)

©Indira Gandhi National Open University

- स्वाध्यायः इति शब्दार्थः आर्थीभावनायां साध्यत्वेन नान्वेति -
  पुनः आर्थीभावनायां स्वाध्यायः इति पदमपि साध्यत्वेन नान्वेति। स्वाध्यायशब्दार्थः वर्णराशिः नित्यः विभुः। स्वाध्यायः नाप्यः, नापि विकार्यः, नापि उत्पाद्यः, नापि संस्कार्यः।

- तस्मात् आर्थीभावनायाम् अर्थावबोधः साध्यत्वेन अन्वेति -
  सामर्थ्यप्राप्तः अवबोधः भाव्यत्वेन अन्वेति। अर्थी समर्थो विद्वान् अधिक्रियत इति न्यायेन दर्शपूर्णादयः विधयः स्वविषयावबोधम् अपेक्षमाणाः तिष्ठन्ति। तथा स्वार्थबोधे स्वाध्यायं विनियुञ्जते। अध्ययनविधिः लिखितपाठादीन् व्यवर्तयति, किञ्च अध्ययनसंस्कृतत्वं स्वाध्यायम् अवगमयति। न च विश्वजिन्न्यायेन फलकल्पना अवलोक्यते। अर्थावबोधे फले दृष्टे सति फलान्तरकल्पनायाः अयोगात्। उच्यते च -

  "लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टफलकल्पना।
  विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति॥"[20] इति।

  तस्मात् अध्ययनविधौ नियमविधिः अस्ति एव। अतः विचारशास्त्रम् आरम्भणीयम् इति सिद्धान्तः।

- पुनः शङ्का समाधानञ्च -
  अत्र प्रश्नो भवति - ये केवलं वेदमात्रं पठन्ति तेषाम् अर्थज्ञानं मा भवतु नाम, परन्तु ये साङ्गवेदाध्यायिनः, तेषां तु अर्थावबोधः भवत्येव। तस्मात् विचारशास्त्रस्य वैफल्यं सिद्धमिति चेत् न, बोधमात्रसम्भवे अपि निर्णयस्य विचाराधीनत्वात् इति। यथा - अक्ताः शर्करा उपदधाति[21] इत्यत्र घृतेनैव सिक्तता विधेया, न तु तैलेन इति निर्णयः व्याकरणेन निगमेन निरुक्तेन वा न सम्भवति। अयं निर्णयः तु केवलं विचारशास्त्रेण कार्यः - तेजो वै घृतमिति वाक्यशेषवशात् अर्थनिर्णयः। तस्मात् विचारशास्त्रस्य वैधत्वं सिद्धम्। तस्मात् विधिसामर्थ्यात् एव अधिकरणसहस्रात्मकं पूर्वमीमांसाशास्त्रं विचारशास्त्रमिदम् आरम्भणीयम् इति सिद्धान्तपक्षः।

ङ) सङ्गतिः - शास्त्रेषु षोढा सङ्गतिः प्रतिपाद्यते -

"सप्रसङ्ग उपोद्घातः हेतुतावसरस्तथा।
निर्वाहकैक्यकार्यैक्ये षोढा सङ्गतिरिष्यते॥" इति

प्रकृते अत्र उपोद्घातसङ्गतिः। इदं चाधिकरणं शास्त्रेण उपोद्घातत्वेन सम्बध्यते। उच्यते - "चिन्तां प्रकृतिसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं प्रचक्षते"[22] इति।

१०. उपसंहारः

मीमांसायाः प्रतिपाद्यः धर्मः एव। मन्त्राणां कश्चन अर्थः भवतीति न मीमांसकाः स्वीकुर्वन्ति, किन्तु एषां विधिषु विनियोगात् भवति सार्थकता। अत्रैव अर्थवादवाक्यानि अपि सन्ति। अर्थवादवाक्यैः साक्षात् विधानं न क्रियते। यथा विविधाः आख्यायिकाः वेदेषु सन्ति तासामाख्यायिकानामुपयोगः साक्षाद्विधाने नास्ति परन्तु परम्परया तु तत्रैव तासामुपयोगो भवति। एवं धर्मविचारशास्त्रमिदं वेदवाक्यार्थविचारे अतीव महत् स्थानं लभते इति शम्।

*****

आश्रितग्रन्थसूची (Bibliography)

---

[20]सर्वदर्शनसंग्रहः (जैमिनिदर्शनम्)

[21]तैतिरीयब्राहमणम् (३/१२/५)

[22]सर्वदर्शनसंग्रहः (जैमिनिदर्शनम्)

©Indira Gandhi National Open University

१. पाण्डेयः, डाँ. मुरलीधरः (सं०)। शाङ्करवेदान्तकोशः (कुलपतेः प्रो. यदुनाथप्रसाद- दुबेमहोदयस्य प्रस्तावनया विभूषितः)। सरस्वतीभवन-अध्ययनमाला ४८। वाराणसी। सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, २०१६ (द्वितीयं संस्करणम्)।
२. शर्मा, डाँ. उमाशङ्कर (भाष्यकारः)। सर्वदर्शनसंग्रहः (विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला ११३)। वाराणसी। चौखम्बा विद्याभवन, २०१९।
३. उपाध्याय, श्री बलदेव (सं०)। संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास (नवम खण्ड, मीमांसा)। उत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थानम्, १९९६।
४. लौगाक्षिभास्करः। अर्थसङ्ग्रहः। चौखम्बा ओरियेन्टला। वाराणसी। २०१९।

©Indira Gandhi National Open University

चम्पूकाव्यः परिभाषा एवं स्वरूप

राजेन्द्र प्रसाद मिश्रा
शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email: rajendram423@gmail.com

गद्य-पद्यमयी रचना वैदिक काल से ही होती रही है। संहिताएं, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, महाभारत, विष्णुपुराण और भागवत पुराण, जातककथा, शिलालेख आदि सबमें इस शैली के दर्शन होते हैं। तथापि ऐसी मिश्र रचना, जिसे सर्वांग चम्पूकाव्य कहा जा सके, दसवीं ई. शती से पूर्व उपलब्ध नहीं होती है।

'चम्पू' शब्द चुरादिगण की चपि (चम्प्) धातु से औणादिक उन् प्रत्यय करने पर और ऊङ् आदेश करने पर बनता है। 'चम्पयति ' अर्थात् सहैव गमयति प्रयोजयति गद्यपद्ये इति चम्पूः अर्थात् जिस रचना में गद्य और पद्य का समान भाव से तथा सहयोगपूर्वक प्रयोग किया जाता है, उसे चम्पू कहते हैं। हरिदास भट्टाचार्य का कथन है कि :-**चमत्कृत्य पुनाति, सहृदयान् विस्मयीकृत्य प्रसादयति, इति चम्पूः।** अर्थात् सहृदयों के हृदय को चमत्कृत करके पवित्र करने वाला एवं विस्मित करके प्रसन्न करने वाला काव्य-विशेष चम्पू कहलाता है। इनके अनुसार चम्पू में शब्द –चमत्कार और अर्थ- प्रसाद गुण होना चाहिए। चम्पू में वर्णनात्मक अंश के लिए गद्य का प्रयोग होता है और अर्थगौरव वाले अंशों के लिए पद्य का प्रयोग किया जाता है।

सर्वप्रथम चम्पूकाव्य की परिभाषा को प्रस्तुत करते हुए आचार्य दण्डी ने लिखा है कि-

गद्यपद्यमयीकाचिच्चम्पूरित्यभिधियते॥ [1]

एक गद्यपद्यमयी काव्यरचना चम्पू भी कहलाती है। अग्निपुराणकार महर्षि वेदव्यास ने ख्यात और प्रकीर्ण दो मिश्रकाव्य के भेद स्वीकार किये है।[2] १०१० से १०५५ ई. सन् के लाक्षणिककार एवं चम्पूकार भोज ने दण्डी की परिभाषा में उच्छवास को सम्मिलित कर चम्पू को आख्यायिका के समान माना है।[3] १२वीं शताब्दी के चालुक्य वंशीय राजा सोमेश्वर का कथन है।[4] १४वीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में गद्य-पद्य से युक्त काव्य को चम्पू की संज्ञा दी है।[5] गद्य-पद्य

---

[1] काव्यादर्श १/१

[2] मिश्रं वपुरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा अ.पु. ३३७/३८.

[3] याऽऽ ख्यायिकेव सौच्छवासा दिव्यगद्यपद्यमयी। सा दमयन्ती वासवदत्तादिरिहोच्यते चम्पूः। शृंगारप्रकाश. ए.एम.ओ.सी.एल.-चम्पू की परिभाषा में उद्धृत।

[3] जी.चं.१/९

[4]गद्यैः पद्यैः समायुक्तामेतद्वर्णनकैर्युतम्। चम्पूनाम्ना समाख्यातां शुश्रूषेत महीपतीः।। मानसोल्लास या अभिलषितार्थचिन्तामणि। पृ.सं. १८३ ए.एम.ओ.सी.एल.-चम्पू की परिभाषा में उद्धृत।

[5] गद्यपद्यमयंकाव्यंचम्पूरित्यभिधीयते।। सा.द.६/३३६

©Indira Gandhi National Open University

मिश्रित श्रव्यकाव्य तो चम्पू से अतिरिक्त भी दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे- विरुद,[6] करम्भक [7] आदि। अतः चम्पू में कोई अन्य भी भेदक तत्त्व होना चाहिए। हेमचन्द्र और वाग्भट्ट ने मिश्रशैली के अतिरिक्त चम्पूकाव्य – शरीर में सांक और सोच्छ्वास विशेषताएँ भी जोड दी है। तदनुसार- गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा चम्पूः।[8] १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के श्रीकृष्ण कवि ने चम्पू को[9] तथा १९ वीं शताब्दी के अलंकारशास्त्री कान्तिचन्द्र विद्यारत्न भट्टाचार्य ने भी आचार्य दण्डी के मत का ही अनुसरण किया है।[10] डॉ. सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित नृसिंहचम्पू की भूमिका में अज्ञातकर्तृक किसी विद्वान् ने चम्पूकाव्य के विषय में कहा है कि जिसमें उक्ति और प्रत्युक्ति तथा जो विष्कम्भ शून्य हो ऐसी गद्यपद्यमयता चम्पूकाव्य कहलाती है-

गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा कविगुम्फिता।

उक्तिप्रत्युक्तिविष्कुम्भशून्या चम्पूरुदाहृताः॥ [11]

त्रिविक्रम भट्ट उदात्त गुणों से युक्त गद्य-पद्य रचना को चम्पू कहते है।[12] गद्य-पद्य मिश्रित चम्पूकाव्य का प्रणयन कवियों को क्यों रुचिकर लगा, एतदर्थ जीवनधरचम्पू के प्रणेता कवि हरिशचन्द्र एवं रामायणचम्पू के रचयिता महाकवि भोज की निम्न पङ्क्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

गद्यावली पद्यपरम्परया च प्रत्येकमप्या वहति प्रमोदम्।

हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्वाग्बाल्यतारुण्यवतीव कन्या॥ [13]

गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्ति र्हृद्या हि वाद्यकलया कलितेव गीतिः।

तस्मात् दधातु कविमार्गजुषां सुखाय चम्पूप्रबन्धरचनां रसना मदीया ॥ [14]

जीवन्धरचम्पू के रचयिता 'हरिश्चन्द्र' चम्पूकाव्य को बाल्य तथा तारुण्य से सम्पन्न किशोरी कन्या के समान अधिक रसोत्पादक स्वीकार करते हैं। तथा भोजराज ने गद्य- समन्वित पद्य सूक्ति को वाद्ययन्त्र के समान ही हृदयाकर्षक माना है। अर्हदास चम्पू को कमल का रूपक मानते है।[15] वेंकटेश माधुर्य मण्डित श्लेष युक्त गद्यपद्य रचना को चम्पू स्वीकार करते

---

[6] गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते॥ सा.द.६/३३७

[7] करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम्॥ सा.द.६/३३७

[8] काव्यानुशासन८/९, काव्यालंकार,वाग्भट्ट. अ.१

[9] मं. म. च.११, पृ.सं..१८६.

[10] गद्यपद्यमयं मिश्रं चम्पूरित्यभिधियते।काव्यदीपिका.४,पृ.सं. ७६.

[11] नलचम्पूः-पं श्री रामनाथ त्रिपाठी शास्त्री,पृ.सं. १४

[12] उदात्तनायकोपेता गुणवद्वृत्तमुक्तका । चम्पूश्च हारयष्टिश्च कैन न क्रियते हृदि॥न.च.१/२५.

[13] जी.चं.१/९

[14] चं.रा. बा. का.३

[15] उल्लासितेन शारदा पुरुदेवभवत्यायचम्पुदम्भजलजेन समुज्जृम्भे।पु.च.प्र.प्रशस्तिपद्यम्१,पृ.सं. ३७४

©Indira Gandhi National Open University

है।[16] चक्रकवि निर्दोष पद्य, हृदयंगम गद्य, व्यंग्य प्रधान तथा सरस्वती के जयशंख के रूप में चम्पू को मानते है।[17] विश्वगुणादर्श चम्पू के रचयिता वेंकटाध्वरी ने मधु और द्राक्षा के संयोग के समान मधुमय चम्पूकाव्य को माना है, तदनुसार-

पद्यं यद्यपि विद्यते बहुसतां द्वयं विगद्यं न तत् गद्यं च प्रतिपद्यते न विजहत्पद्यं बुधास्वाद्यताम्।

आदन्ते हितयोः प्रयोग उभयोरामोदभूमोदयंसंगः कस्य हि न स्वदेत मनसे माध्वीकमृद्वीकयोः॥[18]

चम्पूकार शरभोजी का मन्तव्य है कि पद्य सुन्दर होने पर भी गद्य के बिना हृदयावर्जक नहीं होता है, इसी प्रकार पद्य रहित गद्य भी आनन्दप्रद नहीं होता है। इन दोनों से समन्वित साहित्य ही सुधा माद्वीक के मिश्रण की भांति साहित्य विद्या विचक्षण सहृदयों के हृदय कमल को विकसित करता है।[19] आधुनिक चम्पूकार पं दिलीपदत्तोपाध्याय दोष रहित पद्य एवं गद्य के मिश्रण को चम्पू मानते हैं।[20] चम्पूसाहित्य के समीक्षक डॉ. छवि नाथ त्रिपाठी ने चम्पू की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

गद्यपद्यमयं श्रव्यं सम्बन्धं बहुवर्णितम।

सालङ्कृतं रसैः सिक्तं चम्पुकाव्यमुदाहृतम्॥[21]

अभिराजराजेन्द्र मिश्र ने अपने अभिराजयशोभूषणम् में चम्पूकाव्य तथा नाटक एवं कथादि से उसकी भिन्नता को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि- गद्य तथा पद्य शैलियों के विशिष्टकोटिक मिश्रण के कारण जिसे मिश्रकाव्य कहा गया है उसी काव्य-भेद को कुछेक आचार्य चम्पूकाव्य भी कहते है।[22] और इस चम्पू में गद्य तथा पद्य का मिश्रण सहज होता है उसमें से किसी भी एक के प्रयोग में कवि का दुराग्रह नहीं होता है-

मिश्रणं किन्तु चम्प्वां तत्सहजं गद्यपद्ययोः।

तयोरेकतरस्यापि प्रयोगे न दुराग्रहः॥[23]

अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए मिश्र जी कहते है कि जैसे कोई राहगीर , मन – मुताबिक मार्ग तय करता हुआ किसी वृक्ष की छाया में स्वेच्छया सुस्ताने लगता है और सुस्ता कर पुनः चलने लगता है; यहाँ सुस्ताने या चलने में प्रमाण

---

[16] वेंक का श्री नि. वि. चं.५/२४ पृ.सं. १७२

[17] एष……. पद्यैरतिहृद्यैर्गयेश्च निरन्तरन्तरङ्गितध्वनिः शारदाजयकम्बुद्रोपदीपरिण्यचम्बूः।द्रौ.प.चं.पृ.सं.४.

[18] वि.चं.१/४

[19] पद्यं हृद्यमपीह लोलके धत्ते न हृदयास्पदं गद्यं पद्यविवर्जितं च भजते नास्वाद्यतां मानसे।

साहित्यं हि तयोर्द्वयोरपि सुधामाध्वीकयोर्योगवत् सन्तोषं हृदयाम्बुजे बवितनुते साहित्यविद्याविदाम् ॥ कुमारसम्भवचम्पू.१/६.

[20] श्री प्र. च.१/२२.

[21] चं.का. का आ.एवं ऐतिहासिक अध्य. पृ.सं. ४९.

[22] अभिराजयशोभूषणम्,४/१२४

[23] अभिराजयशोभूषणम्,४/१३२

©Indira Gandhi National Open University

और कारण उसकी अपनी पसन्द ही होती है उसमें न कोई पूर्वाग्रह होता है और न ही कोई विलक्षण लक्ष्य। इसी प्रकार चम्पूकाव्य में भी रचनाकार अपनी रुचि से ही कभी गद्य का तो कभी पद्य का यथोचित मात्रा में तथा बारी-बारी से वर्णन करता है। इस प्रकार चम्पूकाव्य में गद्य-पद्य का मिश्रण पूर्णतः स्वभाविक होता है वस्तुतः गद्य-पद्य का यह मिश्रण ही चम्पूकाव्य की प्रकृति है।[24]

कोशकारों ने भी चम्पू के विषय में कोई विशेष उल्लेख नहीं किया है। वाचस्पत्यम् में[25], शब्दकल्पद्रुम में [26], श्री मोनियर विलियम्स [27] तथा शिवराम आप्टे [28] ने भी गद्य-पद्य के मिश्रण को चम्पू की संज्ञा दी है।

यदि इतिहासकारों की चर्चा करें तो इन्होनें चम्पू-साहित्य के बाह्य एवं आन्तरिक विशेषताओं को प्रतिपादित करके गद्यपद्यात्मक शैली को ही चम्पूकाव्य की संज्ञा दी है। संस्कृतसाहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहासकार आचार्य बलदेव उपाध्याय ने चम्पूकाव्य को मिश्रकाव्य का ही अभिधान माना है जिसमें गद्य और पद्य का मिश्रण होता है। उनका कथन है कि "गद्य की यहाँ भी वही शैली है, जो गद्यकाव्यों में प्रस्तुत की गई है। चम्पूकाव्य गद्यकाव्य का ही प्रकारान्तर से उपबृंहण प्रतीत होता है"।[29] डॉ. भोलाशंकर व्यास ने चम्पू के विषय में अपना विचार रखते हुए कहा है कि " धीरे- धीरे गद्यकाव्यों में पद्यों की छौंक बढती गयी और बाद के चम्पूकाव्यों में तो पद्यों का कलेवर गद्यभाग से भी अधिक हो गया। चम्पूकाव्यों का सम्बन्ध जितना शैली से है, उतना विषय से नहीं । चम्पू का विषय - प्रणयकथा, पौराणिक इतिवृत्त या मिश्रित इतिवृत्त कुछ भी हो सकता है। साथ ही चम्पू के लिए आवश्यक नहीं कि उसका अंगीरस शृंगार ही हो, वह वीर भी हो सकता है। चम्पू, काव्यों की वह शैली है, जिसमें एक साथ गद्य और पद्य का प्रयोग पाया जाता है । कवि अपनी इच्छा के अनुसार कथा के कुछ भाग को पद्य में कहता है तथा उसके बीच-बीच के कई भागों को पद्य से सजा देता है।"[30] आचार्य राधाबल्लभ त्रिपाठी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास में चम्पू के विषय में उपर्युक्त सन्दर्भ१४ को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "रूपक में से उक्ति-प्रत्युक्ति या संवादों की शैली को हटा दिया जाए , तो चम्पू काव्य बन जाता है। इस प्रकार चम्पूकाव्य वास्तव में वैदिक काल से चली आ रही आख्यान और उपाख्यान की शैली का पुनराविष्कार है"।[31]

ए.बी. कीथ के विचार में चम्पूकार गद्य एवं पद्य का प्रयोग एक ही उद्देश्य हेतु निरपेक्षभाव से करते हैं। [32] सी. कुन्हनराज के विचार में शास्त्रीय परिभाषा प्राप्त पद्य और गद्य का समानुपातिक मिश्रण, जो संस्कृत साहित्य की विशिष्ट शैली में

---

[24]अभिराजयशोभूषणम्, ४/१३३-१३६

[25] चम्पूः स्त्री, चपि ऊ। वाच.भा.४, पृ.सं. २८९६

[26] चम्पूः स्त्री, । शब्दकल्पद्रुम एप.श्रुति झा.

[27] 'A kind of elaborate composition in which the same subject is continued through alternations in prose and verse.लघु.चं.; एक साहित्यक अध्ययन पृ.सं. २४.

[28] चम्पूः (स्त्री) चम्पू+ऊ ,संस्कृत हिन्दी.कोश. पृ.सं. ३७३

[29] सं. सा. का इति.पृ.सं.४४६

[30] संस्कृत कवि दर्शन पृ.सं. ५१६-१७.

[31] संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास.पृ.सं. ४०८-९

[32] बीरपाल सिंह संस्कृत साहित्य एवं चम्पू काव्य,SRJIS .Nov-December,2014.vol-II/XV, p. 2570.

©Indira Gandhi National Open University

विकसित हुआ 'चम्पू' है।[33] एस. एन.दास गुप्त,[34] एम. कृष्णमाचारियर,[35] गौरीनाथशास्त्री[36], श्री कृष्ण चैतन्य,[37] एम्. विन्टरनिट्ज [38] विद्वानों ने गद्य-पद्य के मिश्रित स्वरूप को ही चम्पू का मूल आधार स्वीकार किया है।

गद्य-पद्य के मिश्ररूप का वर्णन अन्यत्र भी प्राप्त होता है अभिराजराजेन्द्र मिश्र ने पूर्वाचार्यों के मत को स्वीकार करते हुए चम्पूकाव्य को दो भागों में विभक्त किया है उनका मत है कि प्रबन्ध और मुक्तक के भेदों से चम्पू भी दो प्रकार की होती है उनमें प्रबन्धात्मक चम्पूकाव्य यथा-नलचम्पू, मदालसाचम्पू, यशस्तिलकचम्पू आदि है तथा मुक्तक कोटि के चम्पूकाव्य यथा-करम्भक, विरुद और जयघोषणा हैं।[39] यहाँ चम्पूकाव्य मिश्रशैली का प्रबन्ध रूप है तो विरुद,करम्भक आदि मिश्र शैली के मुक्तक रूप है इन विधाओं के अध्ययन व विश्लेषण से ज्ञात होता है कि विरुद आदि चम्पुओं से भिन्न होते हुए भी ये चम्पूओं के अङ्ग माने जा सकते हैं।

कथावस्तु के आधार पर चम्पूकाव्य तीन प्रकार के उपलब्ध होते हैं प्रथम वे हैं, जिनमें कथावस्तु आद्योपान्त निरन्तर चलती रहती है, जैसे- नलचम्पू,चम्पूभारतम् आदि। द्वितीय प्रकार के वे हैं जिनमें कथावस्तु को भूमिका तथा उपसंहारक के रूप में रखा जाता है और मध्य में विशिष्ट स्थलों में दृश्यों का बृहद वर्णन होता है यथा-विश्वगुणादर्शचम्पू। तृतीय प्रकार के वे हैं, जो मिश्र शैली में रचित तो हैं परन्तु उनमें कथावस्तु का अभाव है; ये दो प्रकार के हैं जिसमें कुक्केसुब्रह्मण्य शास्त्री विरचित सारावतीजलप्रपातवर्णनचम्पू वर्णनात्मक है तथा तत्त्वगुणादर्शचम्पू एवं मन्दारमरन्दचम्पू आदि विचार प्रधान हैं।

चम्पूकाव्यों में आधार की दृष्टि से भी समता नहीं है क्योंकि राम वर्मा कृत स्यानन्दूरपूरवर्णनचम्पू एक ही परिच्छेद में वर्णित है तथा आनन्दवृन्दावनचम्पू २२ स्तबकों में रचित है।[40] चम्पूकाव्यों में गद्य-पद्य की मात्रा भी निश्चित नहीं मिलती है जैसे नलचम्पू में गद्यभाग अधिक है तो चम्पूरामायण,चम्पूभारतम् में पद्यभाग का प्रयोग अधिक दिखाई देता है एवं वीरभद्रचम्पू में गद्यपद्य दोनों समान मात्रा में प्राप्त होते हैं।

उपसंहार-

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि गद्य और पद्य अपने अलग अलग वैशिष्ट्यों से युक्त हुआ करते है। इन दोनों का अस्तित्व पृथक् - पृथक् देखा जा सकता है परन्तु चम्पू गद्यकाव्य का कोई विशेष भेद न होकर गद्यपद्योभय-मिश्र एक विशेष प्रकार का काव्य है। इसमें गद्य का अर्थगौरव पद्यों के लयात्मक सौन्दर्य से समवेत होकर एक अलग ही छटा को धारण करता है। गद्य और पद्य में से किसी एक की प्रधानता चम्पूकाव्य में नहीं रहती है और न ही इसका निर्णयधारण

---

[33] बीरपाल सिंह संस्कृत साहित्य एवं चम्पू काव्य,SRJIS .Nov-December,2014.vol-II/XV, p. 2570.

[34] Though the term Champo is of obscure origin,(i.31)it asa already used by Dandin in his Kavyadarsa to denote a species of Kavya in mixed verse and prose(Gadyapadyamayi),ल.चं.काःएक साहित्यिक अध्ययन,पृ. २५

[35] 'A narrative in mixed prose and verse has been called Champu',H.C.S.L.p.496.

[36] 'Composition in mixed prose and verse in Sanskrit is called Champu' , A.C.H.C.S.L.Vol.I,p.139

[37] 'The Champu isa tale narrated inmixed prose and verse', ल.चं.काःएक साहित्यिक अध्ययन,पृ.सं. २५

[38] H.I.L.vol.3,pt.I,pp.413-14

[39] अभिराजयशोभूषणम्.पृ.सं. २४५-२४६

[40] नल.चं में अ.यो. पृ.सं. १०.

©Indira Gandhi National Open University

होता है कि कितने अंश में गद्य भाग को रखना है तथा कितने अंश में पद्य भाग को ग्रहण करना है। यहाँ कवि अपनी आवश्यता के अनुरूप प्रसंग,घटना या वर्णन के अनुकूल गद्य और पद्य का प्रयोग करता है। अतः इस प्रकार चम्पूकाव्य वह रचना है जिससे द्विविध चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।

संदर्भग्रन्थसूची-

१. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, व्या.शेषराजशर्मा रेग्मी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, २०१३

२. दण्डी, काव्यादर्श, व्या. रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्या भवन.वाराणसी, १९५७

३. हरिश्चन्द्र, जीवन्धरचम्पू, पण्डीत पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८

४. भोज, चम्पूरामायण, व्या. पण्डित रामनाथत्रिपाठी शास्त्री, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, २०१६

५. चक्रकवि, द्रौपदीपरिणय चम्पू, श्रीवाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम, श्रीवाणीविलास संस्कृत सीरीज न.१७ में प्रकाशित

६. विश्वगुणादर्शचम्पू, वेंकटाध्वरी, संपा. प्रो.सूर्यकान्त शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३

७. मिश्र, अभिराज राजेन्द्र, अभिराजयशोभूषणम्, वैजयन्त प्रकाशन, इलाहाबाद, २००६

८. उपध्याय, बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शान्तिनिकेतन, वाराणसी, २००८

९. त्रिपाठी, छविनाथ, चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, चौखम्बा विद्याभवन, १९६५

१०.त्रिपाठी, राधावल्लभ, संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २००७

११.डॉ मैत्रेयी, नलचम्पू में अलंकार- योजना, गुरुकुल वृन्दावन स्नातक शोधसंस्थान, २००७

१२.डॉ. शास्त्री, राजेन्द्र , लघु चम्पूकाव्यः एक साहित्यिक अध्ययन, दीपू प्रकाशन, दिल्ली, २००२

१३. History of Classical Sanskrit Literature, M.Krishnamacharier, Moti Lal Banarasi Das, 1974

१४. History of Indian Literature, M.Winternitz, Vol.III, Pt.I, Moti Lal Banarasi Das, Delhi, 1963

©Indira Gandhi National Open University